हिंदी साहित्य का इतिहास

B.A. HINDI PART-I (Semester-1)

Course Code : 24HNDM401DS01

1

हिन्दी साहित्य : इतिहास लेखन

(क) हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा का परिचय

1. **हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा का परिचय दीजिए।**

उत्तर–हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा–मनुष्य अपने इतिहास को सुरक्षित रखने का प्रयत्न प्रारम्भ से ही करता रहा है। इतिहास-लेखन की परम्परा भी अपने आरम्भिक रूप में काफी प्राचीन है। विकलर का कथन है कि इतिहास की परम्परा का आरम्भ तब से माना जा सकता है, जब से मनुष्य ने लिपि का आविष्कार किया। परन्तु अपने व्यवस्थित, वैज्ञानिक तथा व्याख्यात्मक रूप में इतिहास–लेखन आधुनिक युग की देन है। साहित्य का इतिहास-लेखन भी तभी सम्भव हो सका जब इतिहास सम्बन्धी वैज्ञानिक चिन्तन का आरम्भ हुआ और अतीत के गर्भ में छिपी साहित्यिक सामग्री का अनुसन्धान होने लगा। इसलिए साहित्य के इतिहास–लेखन की परम्परा का आरम्भ और विकास वैज्ञानिक युग के आरम्भ और विकास से जुड़ा हुआ है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि किसी देश में साहित्य का इतिहास–लेखन तभी सम्भव हो पाता है यदि उसके लिए उचित भूमिका बन चुकी हो। उचित भूमिका से तात्पर्य यह है कि देश में प्राचीन ग्रन्थों की खोज का कार्य सम्पन्न हो चुका हो, पुस्तकालयों की व्यवस्था हो, साहित्यकारों के जीवन वृत्तों और उनके साहित्य का प्रामाणिक ज्ञान हो, भाषा-शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ ऐतिहासिक बोध सुविकसित हो। यही कारण है कि शुरू-शुरू में कुछ शताब्दियों तक साहित्य के 'इतिहास लेखन' की पूर्वपीठिका तैयार होती रहती है और उसके बाद ही सम्यक् इतिहास लेखन के प्रयत्न हो पाते हैं। परम्परा का आरम्भ होने के पश्चात् उसका कई दिशाओं में विकास होता है। विभिन्न दृष्टियों के आधार पर साहित्य और उसकी विभिन्न विधाओं के विकास की व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं। हिन्दी का 'साहित्येतिहास लेखन' भी इसका अपवाद नहीं है।

आधुनिक ढंग के ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अभाव में हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा का सूत्रपात आधुनिक युग से पूर्व कैसे सम्भव हो सकता था। साहित्येतिहास लेखन तो दूर रहा, साहित्य के इतिहास की आवश्यक सामग्री का संग्रह भी आधुनिक युग से पूर्व नाममात्र ही हुआ था। जो प्रयत्न हुए भी, उनके पीछे ऐतिहासिक चेतना नहीं थी। डॉ. रामकुमार वर्मा ने सही लिखा है, **"विक्रम की 19वीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी-साहित्य का इतिहास बिखरी हुई रत्नराशि के समान पड़ा रहा, उसका संग्रह करने का प्रयास किसी के द्वारा नहीं हुआ।" किसी काल-विशेष में कवि द्वारा किये गये अपने पूर्ववर्ती कवि अथवा भक्त के विषय में उल्लेख अवश्य मिलते हैं, पर वे व्यष्टि रूप में हैं, समष्टि रूप में नही। जायसी द्वारा अपने पूर्ववर्ती प्रेमकाव्य के कवियों का उल्लेख, नाभादास द्वारा 'भक्तमाल' में भक्तों और कवियों का विवरण, गोकुलनाथ द्वारा 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में पुष्टिमार्ग में दीक्षित वैष्णवों का जीवन-चरित, कुछ लेखकों द्वारा अनेक कवियों की नामावली और काव्य- संग्रह आदि हमें अवश्य प्राप्त होते हैं, परन्तु उन्हें हम इतिहास नही कह सकते।"** परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन कवि-वृत्तों और काव्य-संग्रहों ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखन की भूमिका तैयार करने में सहायता की है। आधुनिक युग से पूर्व के कविवृत्त-संग्रहों में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', 'भक्तमाल', 'कविमाला', 'कालिदास हजारा', सत्कवि गिरा विलास (1746

०), रागकल्पद्रुम (1843 ई०), 'रस-चन्द्रोदय' (1863 ई०), 'दिग्विजय भूषण' (1968 ई०), 'सुन्दरी तिलक' (1968 ई०) और 'भाषा काव्य संग्रह' (1887 ई०) के नाम उल्लेखनीय हैं। ये ग्रन्थ ऐतिहासिक अन्वेषण का परिणाम नहीं हैं परन्तु उन्होंने साहित्येतिहास सम्बन्धी ऐतिहासिक खोज में सहायता अवश्य की है।

(क) **हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखन का आरम्भिक युग**–हिन्दी-साहित्य के इतिहास–लेखन के प्रथम युग में ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्येतिहास सम्बन्धी सामग्री जुटाने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ और साहित्येतिहास की व्याख्या के भी छुट-पुट प्रयास किए गए। कई विद्वानों ने इन प्रयत्नों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है और कुछ अन्य ने इन प्रयासों के वास्तविक महत्त्व को पहचानने में उपेक्षा दिखाई है। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखन की दिशा में सबसे पहला महत्त्वपूर्ण प्रयास फ्रांसीसी विद्वान् **गार्सा द तासी** का है। उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **'इस्त्वार द ला लितरेत्युर ऐंदुई ऐंदुस्तानी'** है। इसका पहला भाग 1839 ई. में प्रकाशित हुआ था और दूसरा 1847 ई. में। इसका दूसरा परिवर्द्धित संस्करण 1871 ई. में प्रकाशित हुआ। इसके हिन्दी से सम्बन्धित अंश का अनुवाद डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' के नाम से 1952 ई. में किया है। कुछ विद्वानों (डॉ. पारीक तथा डॉ. सुमन राजे आदि) ने इसे हिन्दी-साहित्य के प्रथम इतिहास की संज्ञा दी है। परन्तु इसे हिन्दी-साहित्य का इतिहास कहना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं। ऐतिहासिक बोध सम्पन्न फ्रांसीसी विद्वान् अपने ग्रन्थ को साहित्य का इतिहास नहीं बना सके। डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त का कथन है, "कवियों को कालक्रम के स्थान पर अंगरेज़ी वर्णक्रम से प्रस्तुत करना, कालविभाजन एवं युगीन प्रवृत्तियों के विवेचन का कोई प्रयास न करना, हिन्दी के कवियों में इतर भाषाओं को घुला-मिला देना आदि ऐसी त्रुटियाँ हैं जिनके कारण इसे 'इतिहास' मानने में संकोच होता है।" परन्तु इससे इस ग्रन्थ का महत्त्व कम नहीं हो जाता। गार्सा पहले विदेशी विद्वान हैं जिन्होंने फ्रांसीसी भाषा के माध्यम से पहली बार हिन्दी और उर्दू के कवियों के रचनाकाल, उनके जीवन-चरित्र, उनकी जाति और निवास स्थान आदि का अनुसन्धान करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। उनका ग्रंथ भूमिका, काव्य के रूपों और छन्दों के विवरण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भूमिका के लेखन में साम्प्रदायिक दृष्टि की संकीर्णता अवश्य खटकती है।

हिन्दी भाषा में **शिवसिंह सेंगर** द्वारा लिखित **'शिवसिंह सरोज'** गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें लगभग एक हज़ार भाषा कवियों का जीवनचरित उनकी कविताओं के उदाहरण सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। 1883 ई. में प्रकाशित इस ग्रन्थ की सामग्री यद्यपि इतनी प्रामाणिक नहीं है तथापि परवर्ती इतिहासकारों ने इससे पर्याप्त सहायता ली है। ग्रियर्सन ने इसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा है–"एक देशी ग्रन्थ जिस पर मैं अधिकांश निर्भर रहा हूँ और प्रायः सभी छोटे कवियों और अनेक प्रसिद्ध कवियों के भी सम्बन्ध में प्राप्त सूचनाओं के लिए जिसका मैं ऋणी हूँ, शिवसिंह सेंगर द्वारा विरचित और मुन्शी नवल किशोर, लखनऊ द्वारा प्रकाशित 'शिवसिंह सरोज' (द्वितीय संस्करण, 1888 ई०) अत्यन्त लाभदायक है।" परन्तु यह ग्रन्थ भी साहित्य के इतिहास लेखन की पहली शर्त–'कालक्रमानुसार प्रस्तुतीकरण'–पूरी नहीं करता। इसलिए यह भी साहित्येतिहास-लेखन के लिए सहायक ग्रन्थ बनकर रह गया, अपने में साहित्य का इतिहास नहीं बन सका। ग्रन्थ की सक्षिप्त भूमिका एक दृष्टि से अवश्य महत्त्वपूर्ण है। इसमें हिन्दी-साहित्य के इतिहास के कालविभाजन की झलक अवश्य मिल जाती है। डॉ. शिवकुमार के मतानुसार, "(वे) हिन्दी के पहले विद्वान हैं जिन्होंने हिन्दी-साहित्य की परम्परा के नैरंतर्य की ओर संकेत किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रियर्सन ने इन संकेतों के आधार पर अपने इतिहास ग्रन्थों में काल विभाजन का यत्न किया।" इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि शिवसिंह सेंगर की ऐतिहासिक चेतना अपने युग के अन्य हिन्दी लेखकों से अधिक विकसित थी।

इस युग में इतिहास-बोध और लेखन-पद्धति की दृष्टि से **डॉ. जॉर्ज ग्रियर्सन** के इतिहास ग्रन्थ **'द मॉडर्न वर्नाक्युलर लिट्रेचर ऑफ हिन्दुस्तान'** का महत्त्व सर्वाधिक है। किशोरीलाल गुप्त ने इसका अनुवाद 'हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास' के नाम से किया है। इस ग्रंथ का प्रकाशन एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की पत्रिका के विशेषांक के रूप में 1888 ई. में हुआ। नलिनविलोचन शर्मा के शब्दों में, "युग विभाजन, पृष्ठभूमि निर्देश, सामान्य प्रवृत्ति निर्देश तथा तुलनात्मक आलोचना एवं मूल्यांकन विषयक प्रयासों तथा विवेचना की साहित्यिकता के कारण यदि इसे 'हिन्दी का प्रथम साहित्यिक इतिहास' माना जाए, तो उचित ही है।" ग्रियर्सन महोदय साहित्येतिहास-लेखन की गम्भीरता से अच्छी तरह से परिचित थे, इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ को साहित्य का इतिहास कहने में संकोच किया है। कहीं-कहीं उनकी ऐतिहासिक दृष्टि भी ईसाई धर्म के अनुराग और अंग्रेज़ी साम्राज्य के प्रति मोह के कारण दूषित हुई है, परन्तु उनके अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन की परम्परा को विशेष बल मिला है। इस ग्रंथ की दो विशेषताओं की ओर विद्वानों ने विशेष रूप से संकेत किया है। पहली, उन्होंने हिन्दी-साहित्य का भाषा की दृष्टि से क्षेत्र निर्धारित करते हुए स्पष्ट किया है कि इसमें संस्कृत–प्राकृत और अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू को सम्मिलित नहीं

किया जा सकता। दूसरी, उन्होंने अपने ग्रंथ के आधार–स्रोत के रूप में तासी व शिवसिंह सेंगर के ग्रंथों के अलावा 'भक्तमाल', 'गोसाई चरित' आदि का भी उल्लेख करके अपनी ईमानदारी और प्रामाणिकता का परिचय दिया है। एक इतिहासकार में इस ईमानदारी का होना अत्यावश्यक है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में राजनीतिक स्वतन्त्रता की तीव्र आकांक्षा और अपने अतीत की महानता को उजागर करने की प्रबल प्रवृत्ति के कारण साहित्यिक कृतियों की खोज और कवियों के अनुसंधान का कार्य बड़े पैमाने पर होने लगा। इस दृष्टि से नागरी प्रचारिणी सभा का काम प्रशंसनीय है। **मिश्र बन्धुओं** ने सभा की रिपोर्टों को आधार बनाकर **'मिश्र बन्धु विनोद'** जैसे विशाल कविवृत्तसंग्रह की रचना की जो चार भागों में विभक्त है। इसके पहले तीन भाग 1913 ई. में और चौथा भाग 1934 ई. में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ द्वारा हिन्दी-साहित्य के इतिहास सम्बन्धी विपुल सामग्री एकत्र हुई। 'मिश्र बन्धु विनोद' के रचयिता साहित्येतिहास के धर्म को समझते थे और उसकी लेखन-प्रक्रिया से भी परिचित थे, परन्तु वे 'मिश्र बन्धु विनोद' को साहित्य के इतिहास का रूप नहीं दे पाए। उन्होंने इस तथ्य को स्वयं स्वीकार किया है। उनके विशाल ग्रन्थ द्वारा विकसित और प्रौढ़ इतिहास-लेखन के लिए ज़मीन अवश्य तैयार हुई। आचार्य शुक्ल ने इसकी सीमाओं को रेखांकित करते हुए भी इसके योगदान को यह कहते हुए स्वीकार किया है, "कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः 'मिश्रबंधुविनोद' से ही लिए हैं।"

इस प्रारम्भिक युग में दो अन्य विदेशी विद्वानों ने अंग्रेज़ी में हिन्दी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास लिखने का यत्न किया। **एडविन ग्रीव्ज़** का **'ए स्कैच आफ हिन्दी लिट्रेचर'** (1918 ई०) और **एफ. ई. के. का 'ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिट्रेचर'** (1920 ई०) अत्यन्त संक्षिप्त आकार के ग्रन्थ होते हुए भी उल्लेखनीय हैं। इनमें हिन्दी-साहित्य की कालक्रमानुसार और व्यवस्थित ढंग से रूपरेखा दी गई है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल से पूर्व अंग्रेज़ी भाषा में ही हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने के प्रयत्न हुए। हिन्दी के विद्वानों का ध्यान साहित्य के इतिहास के लिए अधिक सामग्री जुटाने तक सीमित रहा।

(ख) हिन्दी–साहित्य के इतिहास-लेखन की परम्परा का विकास युग–हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन का विकसित, व्यवस्थित और प्रौढ़ रूप **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** के **'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'** में दिखाई देता है। इसका प्रकाशन काल 1929 ई. है। उन्होंने ही हिन्दी-साहित्येतिहास-लेखन की परम्परा को विकास के उस छोर तक पहुँचाया जिस पर हम गर्व कर सकते हैं। वे युग प्रवर्तक लेखक हैं। इसलिए कई विद्वानों ने साहित्येतिहास लेखन के विकास युग को शुक्ल युग का नाम दिया है।

आचार्य शुक्ल वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक ऐतिहासिक दृष्टि से सम्पन्न इतिहासकार थे। इतिहास लेखन की पद्धति से पूरी तरह परिचित थे। उनमें साहित्य के इतिहास की व्याख्या करने की अद्भुत विवेचन शक्ति थी। उनकी लोकवादी दृष्टि ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का सम्बन्ध लोक-मानस से जोड़ने का प्रगतिशील यत्न किया। उनकी ऐतिहासिक सूझ-बूझ की प्रौढ़ता इस बात से देखी जा सकती है कि वे जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन को साहित्यिक परिवर्तन का निर्णायक कारण मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे चित्तवृत्ति के परिवर्तन का कारण सामाजिक परिवेश के परिवर्तन में खोजते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि उनका साहित्येतिहास लेखन वैज्ञानिक भी है और परिवर्तनशील भी। इनकी मान्यता है कि 'प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है। तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।' साहित्य के इतिहास लेखन में उन्होंने उक्त विकासवादी व वैज्ञानिक धारणा को आँखों से ओझल नहीं होने दिया।

प्रौढ़ ऐतिहासिक दृष्टि के कारण ही नहीं, लेखन पद्धति की दृष्टि से भी आचार्य शुक्ल का इतिहास अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है। हिन्दी-साहित्य के लगभग 100 वर्षों के इतिहास का जो चार सुस्पष्ट काल-खण्डों में विभाजन उन्होंने किया और सामग्री के प्रस्तुतीकरण की जो पद्धति अपनाई, वह कुछ परिवर्तनों के साथ अभी तक मान्यता प्राप्त है। डॉ. सुमन राजे के शब्दों में, "शुक्ल जी का वर्गीकरण कालजयी सिद्ध हुआ। सर्वप्रथम उन्होंने किसी पुष्ट आधार पर विभाजन किया है एवं उसके कारण भी प्रस्तुत किये हैं।" इसलिए शुक्ल जी का इतिहास प्रवृत्तिबोध, कालविभाजन, युगों के नामकरण तथा सामग्री के सुव्यवस्थित वर्गीकरण के कारण भी परवर्ती इतिहासकारों के लिए प्रकाश स्तम्भ सिद्ध हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि शुक्ल जी के साहित्य के इतिहास में पूर्ववर्ती परम्परा की झलक भी मिल जाती है। यद्यपि नव-उपलब्ध तथ्यों और निष्कर्षों के कारण शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत किया गया काल-विभाजन कहीं-कहीं त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो रहा है तथापि इतना निश्चित है कि उनमें साहित्य के इतिहास लेखन की अद्भुत समझ थी।

इस युग में अन्य विद्वानों ने भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखन का कार्य किया और शुक्ल जी की परम्परा को बनाये रखा। अन्य साहित्यिक इतिहासों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं–

1. डा. श्यामसुन्दर दास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (1930 ई०)
2. पं. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (1931 ई०)
3. श्री सूर्यकांत शास्त्री का 'हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (1932 ई०)
4. पं. अयोध्या सिंह उपाध्याय का 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' (1934 ई०)
5. डा. रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1938 ई०)

इन ग्रन्थों में नई सामग्री का उपयोग तो हुआ परन्तु इस युग का कोई भी लेखक हिन्दी-साहित्य के इतिहास–लेखन की परम्परा को नया मोड़ देने में असमर्थ रहा। यह कार्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पन्न हुआ।

(ग) वर्तमान युग में हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन की परम्परा–आचार्य शुक्ल के बाद इतिहास-दर्शन तथा रचना-विधान की दृष्टि से **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी** का साहित्येतिहास लेखन विशेष महत्त्व रखता है। यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने **'हिन्दी-साहित्य की भूमिका'** लिखकर साहित्य के इतिहास लेखन को नया आयाम दिया और शुक्ल जी की परम्परा को आगे बढ़ाया। इसलिए इस पुस्तक के प्रकाशन (1940 ई०) से हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखन में नये युग का आरम्भ माना जाता है। इस इतिहास ग्रन्थ के महत्त्व को रेखांकित करते हुए डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है–"पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी इतिहास प्रणाली के स्थान पर सामाजिक अथवा जातीय ऐतिहासिक प्रणाली का आरम्भ करने वाली यह पहली हिन्दी पुस्तक है।" यह कहना अधिक संगत होगा कि आचार्य द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल की विधेयवादी दृष्टि को अधिक लचीला बनाकर, उनकी लोकवादी दृष्टि को अधिक व्यापक बनाकर हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा के गतिरोध को समाप्त किया। उनके अन्य दो ग्रन्थों- 'हिन्दी-साहित्य' तथा 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' में भी उनकी प्रौढ़ ऐतिहासिक दृष्टि को उनके आदर्शवादी जीवन-दर्शन से अवश्य ठेस पहुँची है; परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि आचार्य शुक्ल के बाद आचार्य द्विवेदी ने ही हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन को नवीन, अधिक सार्थक और महत्त्वपूर्ण बनाने में सर्वाधिक योगदान दिया।

वर्तमान युग में हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा में विकास तो हुआ है परन्तु आचार्य द्विवेदी जैसी प्रतिभा का अभाव खटकता है। आज साहित्य का इतिहास-लेखन कई दिशाओं की ओर उन्मुख हुआ है। इतिहास लेखन के व्यक्तिगत प्रयास भी हुए हैं। **डॉ. रामकुमार वर्मा** का **'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'** तथा **डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त** का **'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'** इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। विभिन्न काल खण्डों को लेकर भी साहित्य के इतिहास लिखे गये हैं, जैसे–डा. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' और डा. कृष्णलाल का 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास' आदि। हिन्दी-साहित्य के विकास को अधिक वैज्ञानिक रूप देने का प्रयत्न भी किया गया है। 'हिन्दी-साहित्य का नया इतिहास' जैसे इतिहास में डा. रामलेखावन पाण्डेय ने काल विभाजन और युगों के नामकरण में नितान्त मौलिकता लाने का प्रयत्न किया है। ऐतिहासिक विश्लेषण की दृष्टि से डॉ. वचनसिंह का 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास' अपनी विशिष्टता रखता है। हिन्दी-साहित्य की विभिन्न विधाओं पर भी अनेक इतिहास लिखे गये हैं। सामूहिक प्रयत्नों में **नागरी प्रचारिणी सभा** द्वारा प्रकाशित **'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास'** (16 भाग) तथा **डॉ. धीरेन्द्र वर्मा** के संपादन में प्रकाशित **'हिन्दी-साहित्य'** भी उल्लेखनीय हैं। **डॉ. नगेन्द्र** के संपादकत्व में प्रकाशित **'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'** भी अनेक विद्वानों के सामूहिक लेखन से रचा गया एक बेहद सफल साहित्येतिहास है।

साहित्येतिहास-लेखन की कुछ नई दृष्टियाँ भी बीसवीं शती के उत्तरार्ध और इक्कीसवीं शती के प्रारंभ में उभरीं। समाज के दलित-उत्पीड़ित व हाशिए पर पड़े लोगों के पक्ष में खड़े होकर उन्हें न्याय दिलाने के लिए साहित्य में जो आवाजें बुलंद हुई, वही आवाजें 'साहित्येतिहास-लेखन' में भी सुनाई दीं। उनमें से एक प्रमुख आवाज़ थी **डॉ. बच्चन सिंह** की। उनका ग्रंथ **'हिन्दी-साहित्य का दूसरा इतिहास'** (1996 ई.) इसी लोकधर्मी दृष्टि से लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण साहित्येतिहास है। इसी प्रकार नारीवादी दृष्टि से रचित साहित्येतिहासों में दो बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वे हैं–(1) **सुमन राजे** द्वारा रचित **'हिन्दी-साहित्य का आधा इतिहास'** (2003 ई.) तथा (2) **नीरजा माधव** द्वारा रचित **'हिन्दी-साहित्य का ओझल नारी इतिहास'** (2013 ई.)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा शनैः-शनैः अनेक दिशाओं में विकसित होती जा रही है। विश्वास है कि धीरे-धीरे वैज्ञानिक ऐतिहासिक दृष्टि का और अधिक विकास होगा और परिणामस्वरूप यह परम्परा नयी-नयी दिशाओं की ओर उन्मुख होकर अधिक विकसित होगी। इसके लिए यह पहली शर्त है कि इतिहास विरोधी साहित्य-चिन्तन से जूझते हुए, इतिहास सम्बन्धी भ्रामक धाराओं के जाल को काटते हुए प्रगतिशील इतिहास-दर्शन के विकास का प्रयत्न किया जाये।

◆◆◆

(ख) हिंदी साहित्य : काल विभाजन एवं नामकरण

2. हिन्दी साहित्य के काल विभाजन एवं नामकरण पर प्रकाश डालिए।

अथवा

हिन्दी साहित्य इतिहास के काल विभाजन एवं नामकरण का परिचय दीजिए।

उत्तर–हिंदी साहित्य का इतिहास : काल विभाजन एवं नामकरण–हिंदी साहित्य के इतिहास को भली प्रकार से समझने के लिए विभिन्न परिस्थितियों और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए उसका काल विभाजन किया गया है। परिस्थितियों के बदलाव के साथ साहित्य भी धीरे-धीरे परिवर्तित होता है। अर्थात साहित्य में नई प्रवृत्तियों के पीछे तत्कालीन परिस्थितियाँ होती हैं। किसी काल विशेष की प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए उस काल का नामकरण किया जाता है। जब वह प्रवृत्ति कमजोर तथा अन्य प्रवृत्तियाँ प्रबल दिखाई पड़ने लगती हैं, तो फिर नई प्रवृत्ति के आधार पर उस अगले काल का नामकरण किया जाता है। इस प्रकार दोनों कालों के नाम अलग-अलग हो जाते हैं। हर काल की एक समय-सीमा निर्धारित की जाती है। इस प्रकार काल-विभाजन द्वारा एक-एक कड़ी जुड़कर समूचे इतिहास का रूप सामने आता है।

काल विभाजन के आधार–हिंदी साहित्य के इतिहास को विभिन्न आधारों पर विभाजित किया जा सकता है। किसी शासक के नाम पर, या किसी कवि-साहित्यकार विशेष के नाम पर, या फिर किसी प्रवृत्ति की बहुलता के आधार पर काल विभाजन किया जा सकता है। अब प्रश्न यह है कि आखिर इसकी क्या आवश्यकता है? इसका उद्देश्य क्या है? इस संदर्भ में बाबू गुलाबराय का कथन है–**"किसी भी विषय वस्तु का अध्ययन सुबोध और वैज्ञानिक बनाने के लिए उसे वर्गों या खंडों में विभाजित करना संगत रहता है। इतिहास में हम देश के स्थान पर कालखंडों का अध्ययन करते हैं।"** समूचे इतिहास के अलावा, उसके किसी कालखंड विशेष पर भी अलग-अलग पुस्तकें उपलब्ध हो सकती हैं। जैसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' समूचे हिंदी साहित्य को समेटता है, जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' केवल आदिकाल तक सीमित है।

काल विभाजन के आधार के संबंध में मुख्यतः दो मत प्रचलित हैं। डॉ गणपतिचंद्र गुप्त का कथन है, "एक मत के अनुसार साहित्येतिहास का काल-विभाजन सर्वथा स्वतंत्र रूप में विशुद्ध साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर होना चाहिए, जबकि दूसरे मत के अनुसार साहित्य समाज की प्रवृत्तियों का प्रतिबिंब है, अतः तत्संबंधी समाज की विभिन्न परिस्थितियों, विशेषतः राष्ट्रीय परिस्थितियों के आधार पर साहित्येतिहास का काल-विभाजन किया जाना चाहिए।" इस विषय में यह ध्यान में रखना चाहिए कि एक प्रवृत्ति विभिन्न कालखंडों में हो सकती है और एक कालखंड में विभिन्न प्रवृत्तियाँ भी एक साथ हो सकती हैं। विभिन्न परंपराओं आदि का प्रभाव भी तत्कालीन साहित्य पर पड़ता है। हमारे लिए यह भी विचारणीय है कि किसी काल की परंपराओं और परिस्थितियों को हिंदी साहित्येतिहास में उसी सीमा तक शामिल किया जाना चाहिए, जितनी वे साहित्य के विकास में सहायक हों। डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त के अनुसार, **"साहित्य के इतिहास में परंपराओं एवं परिस्थितियों का आधार उसी सीमा तक ग्रहण किया जाना चाहिए जहाँ तक वे साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होती हैं, अन्यथा उनका असंबद्ध एवं स्वतंत्र विवरण अनावश्यक भार सिद्ध होगा।"** असंबद्ध प्रवृत्तियों का वर्णन अनावश्यक होता है। वह इतिहास को बोझिल बना देता है, अतः उससे बचना चाहिए।

काल विभाजन का भी अपना एक लक्ष्य होता है। काल-विभाजन के लक्ष्य पर टिप्पणी करते हुए डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त लिखते हैं–**"काल-विभाजन का लक्ष्य अंततः इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में उसकी घटनाओं एवं प्रवृत्तियों के विकास-क्रम को स्पष्ट करना होता है। साहित्येतिहास पर भी यह बात लागू होती है। साहित्य की अंतर्निहित चेतना, क्रमिक विकास, उसकी परंपराओं के उत्थान-पतन एवं उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के दिशा-परिवर्तन आदि के काल-क्रम को स्पष्ट करना ही काल-विभाजन का लक्ष्य होता है, अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नही है।"** इसीलिए हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रवृत्तियों के साथ-साथ विभिन्न कवियों- साहित्यकारों के जीवन में घटित घटनाओं का वर्णन भी मिलता है।

सामान्यतः किसी भी इतिहास के विकासक्रम को प्राचीन काल, मध्यकाल तथा आधुनिक काल में बाँटना सुविधाजनक रहता है। प्राचीन के अंतर्गत उदय काल तथा आधुनिक के अंतर्गत अपेक्षाकृत समकाल को शामिल किया जाता है। इनके बीच का विकास मध्यकाल में शामिल होता है। हिंदी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन को हम देखते हैं तो उसमें प्राचीन काल को आदिकाल, मध्यकाल को भक्तिकाल और रीतिकाल नामक दो काल खंडों तथा उसके बाद आधुनिक काल के रूप में यह

विभाजन मिलता है। इन कालों के नाम किसी ऐतिहासिक कालक्रम के आधार पर (आदिकाल), किसी आंदोलन के आधार पर (भक्तिकाल) तथा किसी साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर (रीतिकाल और आधुनिक काल) रखे गए हैं। इनके अलावा आधुनिक काल के अंतर्गत छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद जैसे नाम विचारधारा के आधार पर तथा भारतेंदु युग और द्विवेदी युग जैसे नाम प्रभावशाली व्यक्ति (साहित्यकार) के नाम पर रखे गए हैं।

प्रमुख इतिहास लेखकों द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन–आपको यह जानकारी रोचक लगेगी कि हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की शुरूआत एक विदेशी इतिहास लेखक गार्सा द तासी ने की। इनकी फ्रेंच में लिखित पुस्तक का नाम है–इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐंदुई ऐंदुस्तानी अर्थात हिंदुई और हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास। इसके पहले भाग का प्रकाशन 1839 ई. में हुआ तथा दूसरे का 1847 ई. में। इसमें काल-क्रम नहीं था। इसमें कवियों के नाम के वर्ण-क्रम के अनुसार विवरण दिया गया था। बाद में मौलवी करीमुद्दीन (तज़किरा-ई-शुअरा-ई-हिंदी, 1848 ई.) तथा शिवसिंह सेंगर (शिवसिंह सरोज, 1878 ई.) की रचनाएँ भी प्रकाश में आईं, परंतु उन्हें पूरी तरह इतिहास के ग्रंथ नहीं माना जा सकता। इन ग्रंथों में काल-विभाजन का कोई स्पष्ट दृष्टिकोण दिखाई नहीं देता। इस संदर्भ में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इससे इनका महत्व कम नहीं हो जाता। वर्तमान संदर्भों में भले ही इनका कुछ भी महत्व न समझा जाए परंतु उस समय इनका महत्व अवश्य था। ये प्रारंभिक प्रयास थे और प्रारंभिक प्रयास का भी अपना विशिष्ट महत्व होता है। इन्होंने आगे के इतिहास के लेखन के लिए आधार सामग्री का काम किया।

(1) डॉ. जार्ज ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन–हिंदी साहित्य के इतिहास के काल विभाजन का पहला प्रयास डॉ. जार्ज ग्रियर्सन ने किया। उनके द्वारा विभिन्न कालों के नाम और समय का निर्धारण इस प्रकार है–(1) चारण काल (700-1300 ई.) (2) पंद्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण, (3) जायसी की प्रेम कविता, (4) ब्रज का कृष्ण-संप्रदाय, (5) मुगल दरबार, (6) तुलसीदास, (7) रीति-काव्य, (8) तुलसीदास के अन्य परवर्ती, (9) अठारहवीं शताब्दी, (10) कंपनी के शासन में हिंदुस्तान, (11) महारानी विक्टोरिया के शासन में हिंदुस्तान।

डॉ. ग्रियर्सन के इस काल विभाजन को देखते ही लगता है कि यह बहुत अस्त-व्यस्त सा है। इसमें चारण काल को बाद में रामकुमार वर्मा ने भी स्वीकार किया, परंतु 1300 ई. के बाद सीधे पंद्रहवीं शती पर पहुँचने से बीच में कई वर्षों का क्या हुआ, इस बात का पता नहीं चलता। वर्तमान में पंद्रहवीं शती के धार्मिक पुनर्जागरण को भक्तिकाल के अंतर्गत स्वीकार किया जाता है। उस समय काल विभाजन का कोई विशेष आधार नहीं था। इसलिए कहीं काल, कहीं प्रवृत्ति, कहीं कवि विशेष, कहीं धार्मिक संप्रदाय आदि को मुख्य आधार मानकर यह काल विभाजन किया गया है। राजनीतिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए 'कंपनी के शासन में हिंदुस्तान' तथा 'विक्टोरिया के शासन में हिंदुस्तान' जैसे नाम भी मिलते हैं। यह प्रयास आज पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता। परंतु इस प्रयास की सराहना किए बिना नहीं रहा जा सकता।

(2) मिश्र बंधुओं द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन–आगे चलकर काल विभाजन के संदर्भ में मिश्र बंधुओं (गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र) ने प्रयास किया। डॉ. ग्रियर्सन की अपेक्षा मिश्र बंधुओं का काल विभाजन अधिक प्रौढ़ है। यह काल विभाजन मिश्र बंधुओं की पुस्तक 'मिश्र बंधु विनोद' (प्रथम तीन भाग 1913 ई., चौथा भाग 1934 ई.) में प्रस्तुत है जो इस प्रकार है–

1.	प्रारंभिक काल	:	पूर्व आरंभिक काल (700-1343) (वि.)
			उत्तर आरंभिक काल (1344-1444) (वि.)
2.	माध्यमिक काल	:	पूर्व माध्यमिक काल (1445-1560) (वि.)
			प्रौढ़ माध्यमिक काल (1561-1680) (वि.)
3.	अलंकृत काल	:	पूर्व अलंकृत काल (1681-1790) (वि.)
			उत्तर अलंकृत काल (1791-1889) (वि.)
4.	परिवर्तन काल	:	1890-1925 (वि.)
5.	वर्तमान काल	:	1926 (वि.) से अब तक

मिश्रबंधुओं द्वारा किए गए काल विभाजन के बारे में डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त का कथन है कि "जहाँ तक पद्धति की बात है, यह वर्गीकरण बहुत सम्यक एवं स्पष्ट है। किंतु तथ्यों की दृष्टि से इसमें भी अनेक विसंगतियों विद्यमान हैं। विभिन्न कालखंडों के नामकरण में भी एक जैसी पद्धति नहीं अपनाई गई है। जहाँ अन्य नामकरण विकासवादिता के सूचक हैं वहाँ 'अलंकृत काल'

आंतरिक प्रवृत्ति पर आधारित है। अस्तु, इन दोषों के होते हुए भी मिश्र बंधुओं का प्रयास पर्याप्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रौढ़ है, इसमें कोई संदेह नहीं।" आज विभिन्न शोधों के आलोक में मिश्र बंधुओं का यह प्रयास अमान्य हो चुका है, परंतु तत्कालीन परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह एक महत्वपूर्ण प्रयास था।

(3) आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन–आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन अत्यधिक तार्किक है। उसे आज भी सबसे अधिक मान्यता प्राप्त है, नाम भले ही अलग हों। आचार्य शुक्ल के कुछ तर्कों से असहमत हुआ जा सकता है। परंतु उनके कई तर्क ऐसे हैं जो आज भी अकाट्य हैं। आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

आदिकाल	:	वीरगाथा काल	:	संवत 1050-1375 वि.
पूर्व मध्यकाल	:	भक्ति काल	:	संवत 1375-1700 वि.
उत्तर मध्यकाल	:	रीतिकाल	:	संवत 1700-1900 वि.
आधुनिक काल	:	गद्यकाल	:	संवत 1900-1984 वि.

आचार्य शुक्ल ने कुल 900 वर्षों के इतिहास को उपर्युक्त चार कालों में विभाजित किया है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास (1929 ई.) के आरंभ में 'प्रथम संस्करण का वक्तव्य' के अंतर्गत इस ग्रंथ की पद्धति पर अपने विचार प्रकट किए हैं। इस पद्धति में नामकरण के दो आधार हैं–1. प्रचुरता और 2. प्रसिद्धि। वे लिखते हैं–"इस पुस्तक में जिस पद्धति का अनुसरण किया गया है, उसका थोड़े में उल्लेख कर देना आवश्यक जान पड़ता है। पहले काल विभाग को लीजिए। जिस काल विभाग के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ती है, वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है। इसी प्रकार काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बनाया जा सकता है। किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि दूसरे ढंग की रचनाओं में से चाहे किसी एक ढंग की रचना को लें, वह परिमाण में प्रथम के बराबर न होगी, यह नहीं कि और सब ढ़गों की रचनाएँ मिलकर भी उसके बराबर न होंगी।"

शुक्ल जी ने आगे यह भी स्पष्ट किया है कि दूसरी बात है, ग्रंथों की प्रसिद्धि। "किसी काल के भीतर जिस एक ही ढंग के बहुत अधिक ग्रंथ प्रसिद्ध चले आते हैं, उस ढ़ग की रचना उस काल के लक्षण के अंतर्गत मानी जाएगी, चाहे और दूसरे ढंग की अप्रसिद्ध और असाधारण कोटि की बहुत-सी पुस्तकें भी इधर-उधर कोनों में पड़ी मिल जाया करें। प्रसिद्धि भी किसी काल की लोकप्रवृत्ति की प्रतिनिधि है। सारांश यह है कि इन दोनों बातों की ओर ध्यान रखकर काल विभागों का नामकरण किया गया है।"

आचार्य शुक्ल का काल विभाजन इतना सटीक है कि विभिन्न तर्कों द्वारा आलोचना करने वाले भी कोई विशिष्ट नामकरण या सीमा प्रस्तुत नहीं कर सके। थोड़ा-बहुत नामकरण में अंतर करते हुए घूम-फिरकर फिर वहीं आ गए। इसीलिए आचार्य शुक्ल के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (1929 ई.) के संदर्भ में टिप्पणी करते हुए डॉ. बच्चन सिंह ने लिखा है कि "आरंभ में ही कह दूँ कि न तो आचार्य रामचंद्र शुक्ल के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' को लेकर दूसरा नया इतिहास लिखा जा सकता है और न उसे छोड़कर। नए इतिहास के लिए शुक्ल जी का इतिहास एक चुनौती है।" इस कथन से ही आचार्य शुक्ल के इतिहास के महत्त्व का ज्ञान हो जाता है।

ध्यान दीजिए कि ग्रियर्सन ने अपने काल निर्धारण में 'ईस्वी सन' (ई.) का प्रयोग किया है जबकि उनके बाद के इतिहासकारों ने 'विक्रमी संवत' का प्रयोग किया है। विक्रमी संवत में से 57 वर्ष घटाकर ईस्वी सन प्राप्त किया जा सकता है।

(4) डॉ. रामकुमार वर्मा द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन–डॉ. रामकुमार वर्मा ने भी काल विभाजन प्रस्तुत किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन इस प्रकार है–

1.	संधि काल	:	संवत 750-1000 वि.
2.	चारण काल	:	संवत 1000-1375 वि.
3.	भक्ति काल	:	संवत 1375-1700 वि.
4.	रीति काल	:	संवत 1700-1900 वि.
5.	आधुनिक काल	:	संवत 1900 वि. से अब तक

इस काल विभाजन को देखने से साफ पता चलता है कि इसमें 'संधिकाल' एक नया काल है। संधिकाल के अंतर्गत सिद्ध साहित्य शामिल है, जिसे आचार्य शुक्ल ने सांप्रदायिक शिक्षा मात्र कहकर तवज्जो नहीं दी थी। बाद की खोजबीन से पता चला कि सिद्धों के साहित्य की भी प्रासंगिकता है। आचार्य शुक्ल के 'वीरगाथा काल' की जगह यहाँ 'चारण काल' कहा गया है। शेष काल विभाजन आचार्य शुक्ल की ही भाँति है। चारण काल का समय भी लगभग आचार्य शुल्क के ही समान है। डॉ. रामकुमार

वर्मा का कथन है– "साहित्य का इतिहास आलोचनात्मक शैली से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। अतः ऐतिहासिक सामग्री के साथ कवियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों की आलोचना करना मेरा दृष्टिकोण है।" इस कथन से पता चलता है कि डॉ. रामकुमार वर्मा के काल विभाजन का आधार मुख्य रूप से साहित्यिक प्रवृत्तियाँ रही हैं।

(5) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन–आचार्य शुक्ल के कई निष्कर्षों से असहमति जताते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपना इतिहास लिखा है। उन्होंने इस प्रकार काल विभाजन प्रस्तुत किया है–

1. आदिकाल : सन 1000-1400 ई.
2. भक्तिकाल : सन 1400-1650 ई.
3. रीतिकाल : सन 1650-1850 ई.
4. आधुनिक काल : सन 1850 ई. से अब तक

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के काल विभाजन में विशेष प्रकार की नवीनता के दर्शन नहीं होते; परंतु उनके कुछ तर्क और निष्कर्ष अवश्य ही अकाट्य हैं। आदिकाल के संदर्भ में टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा–"यह काल भारतीय विचारों के मंथन का काल है और इसीलिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।" सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य और जैन-अपभ्रंश-चरित काव्यों आदि को आचार्य शुक्ल ने 'सांप्रदायिक शिक्षा मात्र' कहा था। इस पर आचार्य द्विवेदी ने विरोध जताते हुए कहा है–"धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती।" इसी तरह भक्तिकाल के संदर्भ में आचार्य शुक्ल के निष्कर्षों से असहमत होते हुए उन्होंने लिखा- "ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता, तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।" ध्यान रखा जाना चाहिए कि उनके काल विभाजन का आधार तार्किकता को लिए हुए प्रवृत्ति है। उन्होंने मुख्यतः प्रवृत्ति को ही आधार मानकर अपना विभाजन प्रस्तुत किया है।

(6) डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन–डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त ने विभिन्न तर्कों के माध्यम से अपने काल विभाजन को प्रस्तुत करते हुए उसे सही कहा है। उनके द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन इस प्रकार है–

1. आदिकाल : सन 1184-1350 ई.
2. पूर्व मध्यकाल : सन 1350-1600 ई.
3. उत्तर मध्यकाल : सन 1600-1857 ई.
4. आधुनिक काल : सन 1857 ई. से अब तक

उन्होंने अपने प्रस्तावित नामकरण के लिए तर्क भी दिए हैं। जहाँ तक आदिकाल का प्रश्न है, तो वे इसे प्रारंभिक काल कहना चाहते थे परंतु, 'आदिकाल' नाम अत्यधिक प्रसिद्ध होने के कारण उसे 'आदिकाल' कहना ही उचित समझा। वे (गणपतिचंद्र गुप्त) लिखते हैं, "वैसे प्राचीन काल, प्रारंभिक काल, आदिकाल में तात्विक दृष्टि से विशेष अंतर भी नहीं पड़ता, अतः हम भी यदि इनमें से 'आदिकाल' को ही स्वीकार कर लें तो इससे पाठकों को सुविधा रहेगी।"

साहित्येतिहास जैसे महत्वपूर्ण विषय पर लेखन करते समय पाठकों की सुविधा-असुविधा पर ध्यान देना उचित नहीं जान पड़ता। यदि इस प्रकार देखा जाए तो 'पूर्व मध्यकाल' के लिए 'भक्ति काल' तथा 'उत्तर मध्यकाल' के लिए 'रीति काल' जैसे नामों का प्रयोग स्वीकृत है। तो फिर यहाँ भी पाठकों की सुविधा को देखा जाना चाहिए था और 'पूर्व मध्यकाल' के लिए 'भक्ति काल' तथा 'उत्तर मध्यकाल' के लिए 'रीति काल' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए था, परंतु ऐसा नहीं किया गया है। इस संदर्भ में गणपतिचंद्र गुप्त लिखते हैं कि "जहाँ तक पूर्वमध्यकाल एवं उत्तर मध्यकाल की बात है, इनके लिए भी क्रमशः भक्ति काल एवं रीति काल नाम रूढ़ हो गए हैं। किंतु इनसे इन काल खंडों की एक-एक प्रवृत्ति को ही प्रमुखता मिल जाती है, शेष तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम इन्हें भक्ति काल और रीति काल नाम से संबोधित करने का अनुमोदन नहीं कर सकते, भले ही इससे पाठकों को थोड़ी असुविधा ही क्यों न हो।" जहाँ तक आधुनिक काल के प्रारंभ का प्रश्न है तो उसे में 1857 ई. से मानना न्यायोचित है। इसका कारण यह है कि 1857 ई. का वर्ष भारतीय इतिहास के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। यहीं से भारतेंदु युग की शुरूआत भी मानी जाती है। भारतेंदु का जन्मकाल 1850 ई. है और लगभग 7-8 वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपनी प्रथम कविता भी लिखी थी। इसलिए आधुनिक काल (भारतेंदु युग) को 1857 ई. से मानने में कोई समस्या नहीं होनी चाहिए।

जहाँ तक डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन के आधार का प्रश्न है, तो इन्होंने भी प्रवृत्तियों को ही अपने काल विभाजन का आधार बनाया है। वे लिखते हैं–"वस्तुतः हमारा लक्ष्य सांस्कृतिक परंपराओं एवं बाह्य परिस्थितियों के प्रकाश में साहित्य की प्रवृत्तियों का अनुशीलन करना है, अतः काल विभाजन में भी इसी तथ्य को ध्यान में रखना उचित होगा।"

हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अब आधुनिक काल में भी कई विभाग बन गए हैं। इसीलिए आज एक आदर्श और सर्वप्रचलित काल विभाजन की आवश्यकता है।

(7) **आदर्श और सर्वप्रचलित काल विभाजन**–हिंदी साहित्य के विभिन्न इतिहास लेखकों द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन का अनुशीलन करने के बाद एक आदर्श और सर्वप्रचलित काल विभाजन की आवश्यकता महसूस की गई। इस दिशा में बड़ी सीमा तक स्वीकार्य प्रयास डॉ नगेंद्र एवं डॉ. हरदयाल द्वारा संपादित पुस्तक 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में किया गया, जो इस प्रकार है–

आदिकाल	:	सातवीं शती के मध्य से चौदहवीं शती के मध्य तक	
भक्ति काल	:	चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक	
रीति काल	:	सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक	
आधुनिक काल	:	उन्नीसवीं शती के मध्य से अब तक–	
	:	पुनर्जागरण काल / भारतेंदु काल	(1857-1900 ई.)
	:	(जागरण काल) द्विवेदी काल	(1900-1918 ई.)
	:	छायावाद काल	(1918-1938 ई.)
	:	छायावादोत्तर काल–	
		प्रगति-प्रयोग काल	(1938-1953 ई.)
	:	नवलेखन काल	(1953 ई.- वर्तमान)

इनमें रीतिकाल के उपविभागों के नाम को लेकर कुछ मतभेद हैं। डॉ बच्चन सिंह ने इसे दो श्रेणियों में बाँटा है। वे लिखते हैं–"रीति काल का संगत उपविभाजन करने के लिए उसे 'बद्धरीति' और 'मुक्तरीति' की श्रेणियों में बाँटना होगा।" इसके बावजूद, व्यापक तौर पर रीतिकाल के तीन उपविभाग स्वीकृत हैं– रीतिसिद्ध, रीतिबद्ध और रीतिमुक्त। इसी प्रकार देखें तो जिसे छायावाद कहा जाता है, लगभग उसी काल को गद्य के संदर्भ में 'शुक्ल युग' तथा छायावादोत्तर काल को 'शुक्लोत्तर युग' कहा जाता है।

'आधुनिक काल' में मुद्रण और संचार की क्रांति के कारण तथा देशकाल की परिस्थितियों के तेजी से बदलने के कारण जल्दी-जल्दी नई-नई प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। इसलिए यह जरूरी है कि आधुनिक काल से पद्य और गद्य का अलग-अलग काल विभाजन किया जाए। आधुनिक काल के काल विभाजन को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं–

आधुनिक काल

पद्य → भारतेंदु युग (1857-1900 ई.)

द्विवेदी युग (1900-1918 ई.)

छायावाद युग (1918-1936 ई.)

प्रगतिवाद (1936-1943 ई.)

प्रयोगवाद (1943-1951 ई.)

नई कविता (1951-1960 ई.)

साठोत्तरी/समकालीन कविता (1960 ई.–वर्तमान)

गद्य

↓

पुनर्जागरण/जागरण काल (1857-1900 ई.)

जागरण-सुधार काल (1900-1918 ई.)

शुक्ल युग (1918-1936 ई.)

प्रगतिवादी गद्य (1936-1943 ई.)

प्रयोगवादी गद्य (1943-1951 ई.)

नई कहानी / नया उपन्यास आदि (1951-1960 ई.)

साठोत्तरी/समालीन गद्य (1960 ई.–वर्तमान)

इस काल विभाजन को देखकर सहमत-असहमत हुआ जा सकता है, परंतु इसे अधिक प्रामाणिक काल विभाजन कहा जा सकता है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि वर्तमान में 1990 ई. के बाद हिंदी साहित्य में विविध 'विमर्श' चल रहे हैं। इनके अपने उद्देश्य हैं तथा इनकी अपनी सीमाएँ भी हैं। वर्तमान के प्रमुख विमर्श हैं—स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, अल्पसंख्यक (मुस्लिम) विमर्श, कृषक विमर्श, थर्ड जेंडर विमर्श और हरित विमर्श आदि। इनको दृष्टि में रखते हुए समकालीन साहित्य का काल विभाजन नई तरह से भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

◆◆◆

(ग) आदिकाल : राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश और साहित्यिक पृष्ठभूमि

आदिकालीन हिन्दी-साहित्य की पृष्ठभूमि पर विचार कीजिए।

अथवा

आदिकालीन हिन्दी-साहित्य के परिवेश पर प्रकाश डालिए।

अथवा

आदिकाल की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का परिचय दीजिए।

अथवा

आदिकाल के नामकरण की समस्या पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–आदिकालीन हिन्दी साहित्य की पूर्व पीठिका–हिंदी साहित्य का आरंभ स्वाभाविक रूप से हिंदी भाषा के उदय (1000 ई.) के पश्चात माना जा सकता है, लेकिन विद्वान इस विषय पर एकमत नहीं हैं। भाषावैज्ञानिक मान्यता के अनुसार संस्कृत की भाषाधारा में पालि और प्राकृत के बाद 500 ई. से 1000 ई. तक का काल अपभ्रंश का काल है। अपभ्रंश के अनेक साहित्यिक सामान्य बोलचाल में प्रचलित रूप थे जिनसे विभिन्न आधुनिक आर्य भाषाओं का जन्म 1000 ई. के आस-पास हुआ। यहाँ हिंदी से अभिप्राय पाँच उपभाषाओं (पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी, राजस्थानी, पहाड़ी और बिहारी) के सम्मिलित भाषामंडल से है। आज इसके तहत लगभग 20 बोलियाँ शामिल हैं। सामाजिक और साहित्यिक शैली के रूप में उर्दू को भी इसमें शामिल किया जाना चाहिए तथा दक्खिनी हिंदी के नाम से जाना जाने वाला एक अन्य भाषा रूप भी हिंदी का ही व्यवहृत रूप है, परंतु उर्दू और दक्खिनी जैसे पृथक भाषाओं के साहित्य के इतिहास का अध्ययन प्रायः अलग से किया जाता है।

हिंदी साहित्य का आरंभ–हिंदी भाषा के उदय के संबंध में इस स्पष्ट मान्यता के बावजूद अनेक विद्वान हिंदी साहित्य का जन्म 1000 ई. से पहले मानने के पक्ष में हैं क्योंकि उनका मत है कि हिंदी के जन्म के लक्षण इस समय से कई शताब्दी पूर्व प्रकट होने लगे थे। यही कारण है कि पंडित चंद्रधरशर्मा 'गुलेरी' अपभ्रंश के उत्तर भाग को 'पुरानी हिंदी' कहते हैं और उसके साहित्य को भी हिंदी का आरंभिक साहित्य मानने के पक्ष में हैं। इसके उत्तर में यह पूछा जा सकता है कि क्या समान तर्क के आधार पर पूर्व की संस्कृत भाषा को छहगुनी पुरानी हिंदी कहकर हिंदी साहित्य में शामिल किया जा सकता है? उत्तर स्पष्ट है नहीं। अतः उत्तर अपभ्रंश या अवहट्ठ के बाद के साहित्य से ही हिंदी साहित्य का उदय स्वीकार किया जाना चाहिए।

अतः यह कहना उचित होगा कि हिंदी भाषा का जन्म 1000 ई. के आस-पास हुआ तथा हिंदी साहित्य उसके बाद 12वीं शताब्दी के मध्य में आरंभ हुआ। इससे पहले के साहित्य को 'संक्रमण काल' का साहित्य कहा जा सकता है जिसके उदाहरण खास तौर पर सिद्ध साहित्य में प्राप्त होते हैं।

हिंदी साहित्य का प्रथम कवि–हिंदी के प्रथम साहित्यकार के रूप में जिन नामों का उल्लेख किया जाता है उनमें सर्वप्रथम कोई अज्ञात कवि पुष्य (पुंड) हैं। इन्हें सातवीं-आठवीं शताब्दी के लगभग विद्यमान माना गया है। परंतु इनकी कोई प्रामाणिक रचना उपलब्ध नहीं होती है। संभवतः पुष्य या पुंड अपभ्रंश के कवि पुष्पदंत का ही नाम हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास के अनुसार आदिकाल के अपभ्रंश विषयक अवलोकन करने से जैन आचार्य देवसेन प्रथम कवि प्रतीत होते हैं, परंतु वे अपभ्रंश के कवि हैं, हिंदी के नहीं। वीरगाथा काल की प्रथम रचना के रूप में 1123ई. में तथाकथित रूप से रचित 'खुमाण रासो' का उल्लेख किया गया है जिसके रचनाकार दलपति विजय है। परंतु यह मत भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि बाद के इतिहासकारों ने यह सिद्ध किया है कि 'खुमाण रासो' का रचनाकाल वास्तव में 18वीं शताब्दी है।

डॉ. रामकुमार वर्मा और डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' ने हिंदी साहित्य का आरंभ 8वीं शताब्दी के सिद्ध कवि सरहपा (769 ई.) से माना है और राहुल सांकृत्यायन द्वारा संपादित 'दोहाकोश' में उद्धरण देकर यह सिद्ध किया है कि सरहपा की रचनाओं में अपभ्रंश व्याकरण के बावजूद तत्समता की प्रवृत्ति तथा हिंदी के रूप की झलक है और यह परंपरा चौरासी सिद्धों की रचनाओं में विकसित हुई है। लेकिन डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि सराहपा की रचनाएँ अपने मूलरूप में कहीं उपलब्ध नहीं हैं। 'दोहाकोश' में प्रस्तुत पाठ उनके तिब्बत में मिले तिब्बती अनुवाद का राहुल सांकृत्यायन द्वारा किया गया अनुवाद मात्र है। अतः सरहपा को हिंदी का प्रथम कवि नहीं माना जा सकता।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पृथ्वीराज चौहान के समकालीन कवि चंदबरदाई को हिंदी भाषा का आदिकवि कहा है और साथ ही यह भी माना है कि चंदबरदाई अपभ्रंश का अंतिम कवि अधिक है और हिंदी का आदिकवि कम। उनके 'पृथ्वीराज रासो' (1200 ई.) को 'हिंदी का प्रथम महाकाव्य' होने का गौरव प्राप्त है। डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त ने जैन कवि शालिभद्र सूरि द्वारा रचित 'भरतेश्वर बाहुबली रास' (1184 ई.) को हिंदी साहित्य की प्रथम उपलब्ध कृति माना है जो 'पृथ्वीराज रासो' से पूर्ववर्ती है। इस कृति का पाठ अविकृत रूप में उपलब्ध है तथा गुजराती, राजस्थानी और हिंदी तीनों में मान्य है। इसे हिंदी जैन साहित्य की रास परंपरा का पहला काव्य माना गया है जिसमें हिंदी की उदयकालीन भाषिक प्रवृत्तियाँ देखीं जा सकती हैं।

इस आधार पर शालिभद्र सूरि को हिंदी का प्रथम साहित्यकार और उनकी 1184 ई. में रचित कृति 'भरतेश्वर बाहुबली रास' को हिंदी का प्रथम काव्य माना जा सकता है, जबकि हिंदी के 'आदि महाकवि' होने का गौरव चंदबरदाई को प्राप्त है तथा 1200ई के आस-पास रचित उनकी रचना 'पृथ्वीराज रासो' हिंदी का प्रथम महाकाव्य है। इसके बावजूद यह भी स्मरणीय है कि 1184 ई. से पूर्व विधमान कुछ काव्य प्रवृत्तियों (अपभ्रंश साहित्य और सिद्ध साहित्य) का भी उल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहास में किया जाता है जो आदिकाल की प्रवृत्तियों को समझने में सहायक हैं।

आदिकाल का स्वरूप–'आदिकाल' हिंदी साहित्य के आरंभ का काल है। 'आदि' का अर्थ है–आरंभ और 'काल' का अर्थ है–समय। अर्थात यह वह समय था जहाँ से हिंदी साहित्य की शुरूआत मानी जाती है। समस्या यह है कि उस समय भारतीय समाज संकट और बदलाव के दौर से गुजर रहा था। इसीलिए इस काल में परस्पर विरोधी तत्व दिखते हैं। राजनीतिक उथल-पुथल, दो संस्कृतियों का मेल, अशांति, बिखराव आदि इस काल के साहित्य में दृष्टिगोचर होते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि "जिस समय हमारे हिंदी साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई-भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था।"

आदिकाल की पृष्ठभूमि–आदिकाल की पृष्ठभूमि बहुत व्यापक थी। उस समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक परिस्थितियों ने पृष्ठभूमि के रूप में इस साहित्य पर व्यापक प्रभाव डाला। इसका परिणाम इस साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों के रूप में सामने आया।

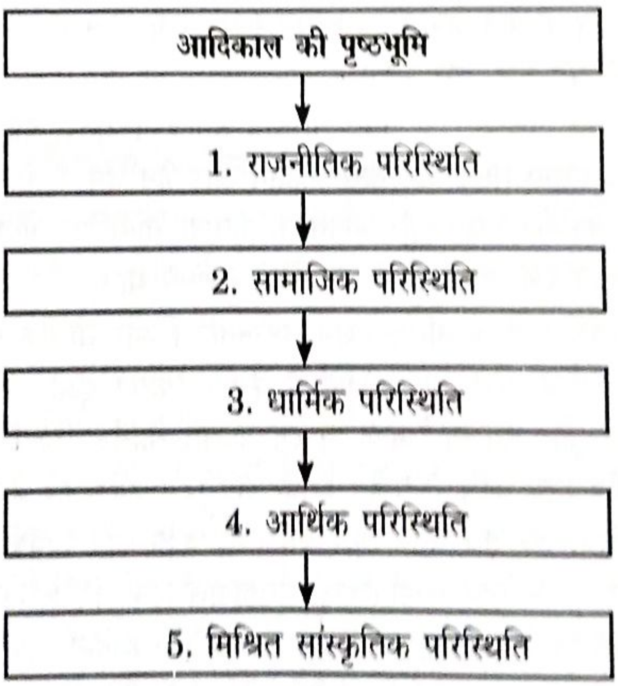

(1) राजनीतिक परिस्थिति–यह महत्वपूर्ण और द्रष्टव्य बिंदु है कि साहित्यिक रचनाओं के पीछे ऐतिहासिक शक्तियों और सामाजिक संस्थाओं का योगदान होता ही है। काव्य सामाजिक परिस्थितियों के बीच रचा जाता है। इसलिए जो जटिलता किसी युग में होती है, वही जटिलता काव्य में भी दिखती है। इसका अर्थ यह है कि काव्य की जटिलता को भली प्रकार समझने के लिए उस युग की जटिल को समझना जरूरी होता है। ध्यान रहे कि आदि काल की राजनीतिक परिस्थिति वर्धन साम्राज्य के पतन से आरंभ होती है। सम्राट हर्षवर्धन के समय में ही उत्तरी भारत पर आक्रमण शुरू हो गए थे। आठवीं शताब्दी से पंद्रहवीं शताब्दी ईस्वी तक के भारतीय इतिहास की राजनीतिक परिस्थिति में भारत में धीरे-धीरे इस्लामिक सत्ता के उदय की कथा शामिल है।

आदिकाल का भारत देशी और विदेशी शक्तियों के युद्धों में फंसा हुआ था। यही समय आदिकाल का भी है। इस युद्ध प्रभावित जीवन में कहीं भी संतुलन नहीं था। बाहरी आक्रमण हो रहे थे। दुर्भाग्य यह रहा कि हिंदू राजा आपस में ही लड़ रहे थे। पृथ्वीराज चौहान, जयचंद, परमर्दिदेव आदि की पारस्परिक लड़ाइयाँ अंतहीन कथाएँ बनती चली गई। अराजकता, गृहकलह, विद्रोह, आक्रमण तथा युद्ध के वातावरण में कुछ कवियों ने आध्यात्मिक जीवन की बातें की, तो कुछ अन्य ने मरते-मरते भी जीवन का रस लेने पर जोर दिया। एक वर्ग ऐसे कवियों का भी उभरा जिन्होंने 'तलवार' के गीत गाकर गौरव के साथ जीने की प्रेरणा दी। डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' ने माना है कि "मुस्लिम आक्रमण का प्रभाव मुख्यतः पश्चिमी एवं मध्य प्रदेश पर ही पड़ा था। इन्हीं क्षेत्रों की जनता युद्धों और अत्याचारों से विशेषतः आक्रांत हुई थी। यही वह क्षेत्र था जहाँ भाषा का विकास हो रहा था। अतः इस काल का समस्त हिंदी साहित्य आक्रमण और युद्ध के प्रभावों की मनःस्थितियों का प्रतिफलन है।"(हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. नगेंद्र) इसी के कारण इस काल के साहित्य में कोई एक प्रवृत्ति इतनी प्रमुख नहीं रह सकी कि दूसरी सब प्रवृत्तियों उसके आगे गौण हो जातीं।

(2) सामाजिक परिस्थिति–आदिकाल में सामाजिक वातावरण बहुत खराब हो चुका था। जनता पूरी तरह से त्रस्त थी। राजा लोग निजी अहंकार के कारण आपस में युद्ध करते रहते थे। इन सबके बीच जनता पीसी जाती थी। वैदिक यज्ञ, मूर्ति पूजा, जैन व बौद्ध उपासना पद्धतियाँ एक साथ चल रही थीं। सातवीं शताब्दी के साथ देश की सामाजिक परिस्थितियाँ बदलीं। इतिहासकारों का मानना है कि "यह ऐसा समय था जब जनता शासन और धर्म दोनों ओर से निराश्रित होती जा रही थी। युद्धों के समय उसे बुरी तरह पीसा जाता था। वह ईश्वर की ओर दौड़ती थी तो सर्वत्र भ्रम और असहायता की स्थिति मिलती थी। जाति-पाति के बंधन कड़े होते जा रहे थे। नारी भी भोग्या मात्र रह गई थी। वह क्रय-विक्रय और अपहरण की वस्तु बनती जा रही थी।" (हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. नगेंद्र)

(3) धार्मिक परिस्थिति–धार्मिक दृष्टि से हिंदी साहित्य के आदिकाल से पहले छठी शताब्दी तक भारत में वैदिक धर्म, मूर्तिपूजक, पौराणिक धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म के बीच अच्छा समन्वय था। सातवीं शताब्दी में एक ओर तो बौद्ध धर्म कमजोर पड़ा और दूसरी ओर जैन तथा शैव मत के प्रति जनता का रुझान बढ़ा। इसी काल में दक्षिण भारत के अलवार-नयनर संतों ने भक्ति आंदोलन की शुरूआत की, जो धीरे-धीरे उत्तर भारत में भी व्याप्त होता गया। फलस्वरूप वैष्णव और शैव आंदोलन नई गति के साथ समाज में फलने लगे। कुल मिलाकर यह समय भारतीय समाज में अनेक धार्मिक विश्वासों के आपसी टकराव का समय था। आदिकाल के साहित्य में इसीलिए सिद्ध मत, नाथ संप्रदाय और जैन धर्म के साथ-साथ भागवत धर्म के भी प्रभाव में रचे गए काव्य उपलब्ध होते हैं। इन काव्यों में धर्म और भक्ति के अलावा सामाजिक भेदभाव तथा आडंबर पर चोट करने के उदाहरण भी मिलते हैं; क्योंकि वह समय देशव्यापी धार्मिक अशांति का समय था।

इस काल में जबकि भारतवर्ष कई तरह के अलग-अलग मत-मतांतरों और धार्मिक मतभेदों से घिरा हुआ था, तभी यहाँ इस्लाम का आगमन हुआ। भारतीय धर्म-संप्रदायों और इस्लाम में काफी टकराव हुआ, लेकिन धीरे-धीरे दोनों ने एक-दूसरे से प्रभाव भी ग्रहण किए। यह काल हिंदू और मुस्लिम समाज के इन बदलते धार्मिक रिश्तों का भी गवाह बना तथा एक साझा विरासत (गंगा-जमुनी तहजीब) की नींव इसी काल में पड़ी। इसके बावजूद "आदिकाल की धार्मिक परिस्थितियाँ अत्यंत विषम तथा असुंतुलित थीं। जन-मानस पर गहरा असंतोष, क्षोभ तथा भ्रम छाया हुआ था। कवियों ने इसी मानसिक स्थिति के अनुरूप खंडन-मंडन, हठयोग, वीरता एवं शृंगार का साहित्य लिखा।"(डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश')।

(4) आर्थिक परिस्थिति–हिंदी साहित्य के आदिकाल में भारत राजतंत्र और सामंती व्यवस्था के उपजीव था। गाँव इस व्यवस्था की इकाई थे और कृषि पर निर्भर थे। किसान अनाज पैदा करके राजा व उनके सामंतों को देते थे जिससे उनका पेट भरता था। राज्य के अधिकारियों को नकद वेतन न देकर जागीर दी जाती थी। किसानों की अपेक्षा इन सामंतों और बिचौलियों का जीवन

आडंबरपूर्ण तथा आरामतलब था। किसानों की पैदावार में राज्य का हिस्सा कभी-कभी 50 प्रतिशत तक होता था। समाज उत्पादक तथा उपभोक्ता में बँटा था। उत्पादक भले ही उत्पादन जैसा महत्वपूर्ण कार्य करता था परंतु समाज में उसे हेय दृष्टि से ही देखा जाता था। जो उपभोक्ता था, उसका सम्मान था। वह समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

(5) मिश्रित सांस्कृतिक परिस्थिति–हिंदी साहित्य का आदिकाल दो संस्कृतियों के परस्पर टकराव और मेल-मिलाप का काल है। इसके एक छोर पर प्राचीन भारतीय संस्कृति का उत्कर्ष दिखाई देता है तो दूसरे छोर पर मुस्लिम संस्कृति भारत में स्थापित होती दिखाई देती है। इसका सबसे प्रभावशाली मिश्रित रूप वास्तुकला में देखने को मिला। अरबी इतिहासकार अल-बरूनी भारतीय कलाओं में धार्मिक भावनाओं की व्यापक अभिव्यक्ति देखकर चकित रह गया था। उसने लिखा है, "वे (हिंदू) कला के अत्यंत उच्च सोपान पर आरोहण कर चुके हैं। हमारे लोग (मुसलमान) जब उन्हें (मंदिर आदि को) देखते हैं, तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वे न तो उनका वर्णन ही कर सकते हैं न वैसा निर्माण कर सकते हैं। हिंदू संस्कृति का प्रभाव इस्लामी संस्कृति पर पड़ा, जैसे कब्रों पर जाना, चादरपोशी करना तथा इस्लामी संस्कृति का प्रभाव हिंदू संस्कृति पर पड़ा, जैसे स्त्रियों को पर्दे में रखना आदि।"

आदिकाल–नामकरण की समस्या–प्रत्येक काल के साहित्य में कुछ सामान्य तथा कुछ विशिष्ट लक्षण दिखाई देते हैं। इनमें जिस प्रवृत्ति की अधिकता होती है, उसी के आधार पर उस काल का नामकरण कर दिया जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आदिकाल को 'वीरगाथाकाल' कहा है। उन्होंने लिखा है, "आदिकाल का नाम मैंने वीरगाथाकाल रखा है।" उन्होंने बताया है कि उस काल के भीतर दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं–अपभ्रंश की और देशभाषा (बोलचाल) की। साहित्य की कोटि में आने वाली रचनाओं में कुछ तो भिन्न-भिन्न विषयों पर फुटकल दोहे हैं, जिनके अनुसार इस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती। साहित्यिक पुस्तकें केवल चार हैं–(1) विजयपाल रासो, (2) हमीर रासो, (3) कीर्तिलता और (4) कीर्तिपताका। दूसरी ओर उन्होंने देशभाषा काव्य के अंतर्गत 8 पुस्तकों पर विचार किया–(1) खुमान रासो, (2) बीसलदेव रासो, (3) पृथ्वीराज रासो, (4) जयचंद प्रकाश, (5) जयमयंक प्रकाश, (6) परमाल रासो (आल्हा का मूल रूप) (7) खुसरो की पहेलियाँ आदि तथा (8) विद्यापति पदावली। शुक्ल जी ने माना है कि "इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से 'आदिकाल' का लक्षण निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अंतिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक ही हैं। अतः आदिकाल का नाम 'वीरगाथाकाल' ही रखा जा सकता है।"

आगे चलकर यह पता चला कि शुक्ल जी द्वारा गिनाई गई वीरगाथाओं में से कई का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। इसके अलावा शुक्ल जी ने सिद्धों, नाथों और जैनों के प्रचुर साहित्य को विशेष संप्रदाय तक सीमित मानकर 'साहित्य' की कोटि में ही नहीं रखा था। बाद के विद्वानों ने उनके इस मत को स्वीकार नहीं किया। अतः ये तीनों प्रवृत्तियाँ भी इस काल की उतनी ही मुख्य प्रवृत्ति सिद्ध होती हैं, जितनी वीरगाथाओं की रचना की प्रवृत्ति। इस कारण 'वीरगाथा काल' नाम सारी प्रवृत्तियों को समेटने में असमर्थ है।

मिश्र बंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' में आदिकाल के लिए 'आरंभिक काल' नाम रखना उचित समझा है। उन्होंने इसके दो भाग किए हैं– पूर्व आरंभिक काल (700-1343वि.) तथा उत्तर आरंभिक काल (1344-1444वि.)। जाहिर सी बात है कि यह हिंदी साहित्य के आरंभ का काल है। इसलिए इसे 'आरंभिक काल' कहा गया।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने इसे संधिकाल तथा चारण काल कहा है। उनका कथन है कि "हिंदी साहित्य के विकास-काल को संधिकाल कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इस काल में दो भाषाओं या दो शैलियों में संधि होती है।" उन्होंने इस काल के लिए सुझाए गए एक और नाम 'चारण काल' के बारे में भी यह कहा कि, "राजनीतिक क्षेत्र में विप्लव होने के कारण साहित्यिक क्षेत्र में भी शांति नहीं रही। राजस्थान राजनीति का प्रधान क्षेत्र होने के कारण अपने यहाँ के चारणों और भाटों को मौन नहीं रख सका।" अतः चारणों या भाटों द्वारा रचित काव्यों की प्रधानता के कारण उन्होंने इस काल को 'चारण काल' कहा। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल को 'वीरकाल' कहा है। 'वीरकाल' कहने का आधार है कि इस काल में वीरों की चर्चा विभिन्न रचनाओं में की गई है।

इस प्रकार, विभिन्न विद्वानों ने हिंदी साहित्य के प्रथम कालखंड को वीरगाथा काल, आरंभिक काल, संधिकाल, चारण काल और वीरकाल जैसे नाम दिए। इनमें आरंभिक काल इस दृष्टि से उचित है कि उससे हिंदी साहित्य के 'आरंभ' का बोध होता है। इसी अर्थ को व्यक्त करने के लिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस कालखंड को 'आदिकाल' का नाम दिया। अन्य नामों की सीमा देखते हुए यह नाम ही सबसे अधिक सटीक और उचित प्रतीत होता है।

◆◆◆

(घ) सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य, जैन साहित्य

सिद्ध साहित्य

4. आदिकालीन सिद्ध साहित्य का परिचय देते हुए उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

अथवा

आदिकालीन सिद्ध साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय दीजिए।

उत्तर–आदिकालीन सिद्ध साहित्य– सिद्ध साहित्य की परम्परा पर विचार करने से पहले सिद्ध तथा सिद्ध-साहित्य से परिचित होना आवश्यक है। महात्मा बुद्ध ने जिस बौद्ध धर्म की स्थापना की थी, उसने उनके काल में अत्यधिक उन्नति की। परन्तु कालांतर में यह धर्म दो शाखाओं में बँट गया–महायान तथा हीनयान। उत्तरी भारत में धीरे-धीरे वैष्णव धर्म और भक्ति का प्रसार होता जा रहा था। शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट जैसे महापुरुषों के प्रभाव से बौद्ध धर्म को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी। इस हानि का एक दूसरा कारण यह भी था कि इस काल तक आते-आते महायान शाखा में भी अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं। अन्ततः बौद्ध धर्म की महायान शाखा भी पुनः दो भागों में विभाजित हो गई–वज्रयान तथा सहजयान। जो बौद्ध उपासक जादू, टोना-टोटका आदि के द्वारा सिद्धि प्राप्त करना चाहते थे, वे **सिद्ध** कहलाए। **'श्री पर्वत'** इन सिद्धों का मुख्य केन्द्र था।

इन सिद्धों ने अपने विचारों, मतों आदि को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए तत्कालीन युग में प्रचलित जनसामान्य की भाषा का प्रयोग किया और उसी भाषा में अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों, विचारधाराओं आदि को लिपिबद्ध कराया। ये सिद्ध बाह्य-पूजा, जाति-पाति, तीर्थाटन आदि का विरोध करते थे और उन्होंने उसके स्थान पर अनेक रूपकों द्वारा योग-साधना के तत्त्वों का निरूपण किया। उन्होंने अपने सम्प्रदाय के नियमों, सिद्धांतों का दिग्दर्शन कराने के लिए जिस साहित्य का निर्माण किया, उसे ही **'सिद्ध साहित्य'** कहा जाता है। चर्यापद, योगचर्या, डोम्बि गीतिका आदि सिद्ध-साहित्य के प्रमुख ग्रंथ हैं।

सिद्ध साहित्य की प्रवृत्तियाँ/विशेषताएँ–सिद्ध साहित्य की रचना करने वाले सिद्धों की संख्या चौरासी मानी जाती है जिनमें लुईपा, शबरीपा, सरहपा, कण्हपा, जालंधरपा, कपालपा आदि प्रमुख हैं। इन सिद्धों ने अपनी रचनाओं में योग-साधना के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि आदि पर बल दिया और रूढ़ियों एवं बाह्याचारों का विरोध किया। परन्तु इसके साथ-साथ उन्होंने उपभोगवाद व तांत्रिक-साधना के रूप में मद्य-मैथुन का सेवन भी स्वीकार किया। उन्होंने निर्वाण के सुख को सहवास-सुख के समान बताया। सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी स्त्री (जिसे वे शक्ति-योगिनी या महामुद्रा कहते थे) का योग या सेवन भी आवश्यक था। रहस्यवाद तो इनकी मूल प्रवृत्ति थी। सिद्ध-साहित्य की प्रवृत्तियों को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है–

सिद्ध साहित्य की प्रवृत्तियाँ/विशेषताएँ

↓

(1) पाखंड, रूढ़ियों एवं बाह्याचारों का खंडन

↓

(2) रहस्य भावना

↓

(3) अंतर्मुखी साधना पर बल

↓

(4) तांत्रिक साधना में मद्य-मैथुन का उपभोग

↓

(5) गुरु की महत्ता का प्रतिपादन

(6) शांत एवं शृंगार रस का प्राधान्य

↓

(7) उपभोगवादी दृष्टिकोण

↓

(8) शून्यवाद की प्रतिष्ठा

↓

(9) भाषा एवं शैली

1. पाखंड, रूढ़ियों एवं बाह्याचारों का खण्डन–सिद्धों ने समाज में प्रचलित पाखंड, आडम्बर, रूढ़ि, बाह्याचार आदि का विरोध किया है। डॉ. रामकुमार वर्मा लिखते हैं, **"निराशावाद के भीतर से आशावाद का संदेश देना, संसार की क्षणिकता में उसके वैचित्र्य का इन्द्रधनुषी चित्र खींचना इन सिद्धों की कविता का गुण था और उनका आदर्श था–जीवन की भयानक वास्तविकता की अग्नि से निकलकर मनुष्य को 'महासुख' के शीतल सरोवर में अवगाहन करना।"** उदाहरण के लिए सरहपाद की निम्न पंक्तियाँ देखिए जिनमें वे पंडितों के शास्त्र-ज्ञान का विरोध करते हैं–

पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ,
दे हहि रुद्ध वसंत न जाणइ।
अमणागमण ण तेन विखंडिअ,
तोवि णिलज्जइ भणइ हउँ पंडिअ।।

इस प्रकार सिद्धों ने ब्रह्म, ईश्वर, जाति-पाति, वेद, यज्ञ आदि का खण्डन किया है, क्योंकि उनकी दृष्टि में ये सभी पाखण्ड हैं। ऐसी बँधी-बँधाई लीक पर चलकर किसी की मुक्ति नहीं हो सकती। अतः ऐसी अलीक को छोड़ देना चाहिए–

छड्डहु रे अलीका बन्धा।
सो मुंचहु जो अच्छहु धन्धा।।

2. रहस्य भावना–सिद्धों ने आत्मा व परमात्मा के मिलन के लिए अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि आध्यात्मिक व आत्मिक अनुभवों को सीधे, सरल, स्पष्ट शब्दों में तथा व्यावहारिक भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। रहस्य की अनुभूति अन्य अनुभवों से बिल्कुल भिन्न है, अतः इसे अभिव्यक्त करने के लिए सिद्धों ने उलटबाँसियों व प्रतीकों का अधिक प्रयोग किया है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि इन उलटबाँसियों व प्रतीकों का प्रयोग योग-साधना के अंगों के अनुरूप ही हुआ है। यथा–

विशि अंधारी मूसा करअ अचारा।
अमिअ-भखअ करण अहारा।।
मार रे जोइया! मूसा पवना।
जूण तुटइ अवणा-गवणा।।
भग बिन्दारअ मुसा खनअ गाती।
चंचल मूसा कलियाँ नाशक वाती।।

3. अन्तर्मुखी साधना पर बल–सिद्धों ने जहाँ पाखण्ड, मूर्ति-पूजा, जाति-पाँति, वेद, बाह्याचार आदि का विरोध किया है, वहीं वे मनुष्य को अन्तर्मुखी-साधना अपनाने का भी आह्वान करते हैं। अन्तर्मुखी-साधना के लिए शरीर की शुद्धि आवश्यक है। उनके अनुसार मनुष्य के शरीर में जो सहस्त्रार तथा कुण्डलिनी है, वही वास्तव में शिव और शक्ति है। उदाहरण के लिए विरुपा की वारुणी प्रेरित अन्तर्मुखी-साधना की पद्धति को देखिए–

सहजे थिर करि वारुणी साव।
अजरामर होइ दिट काँध।।
दशमि दुआरत चिह्न देखइआ।

आइल गराहक अपणे बिहआ।।
चउशठि घड़िए देर पसारा।
पइठल गराहक नहि निसारा।।

4. तांत्रिक साधना में मद्य-मैथुन का उपभोग–सिद्ध साहित्य में मद्य-मैथुन के उपभोग का समावेश किया गया है। तांत्रिक-साधना के अंतिम चरणों में तो 'महासुखवाद' ने 'सहवास-सुख' का ही रूप धारण कर लिया था। गुह्य-समाज की स्थापना के साथ-साथ इन सिद्धों ने मदिरा व मैथुन की अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया। अब सिद्धि की प्राप्ति के लिए किसी योगिनी का साहचर्य आवश्यक हो गया। इन तांत्रिक सिद्धों की साधनाओं में डोमिनी, रजकी, महामुद्रा आदि के नाम पर ऊँच-नीच वर्ण की स्त्री के साथ व्यभिचार किया जाता था। उदाहरण के लिए, सिद्ध कण्हपा अपनी कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए डोमिनी का आह्वान करते हैं–

नगर बाहिरे डोंबी तोहरि कुड़िया छइ।
छोई जाद सो बाम्ह नाड़िया।।
आलो डोंबि! तोए सम करिब म साँग। निधिण कण्ह कपाली जोइ लाग।।
एक्क सो पदमा चौषट्टि पाखुड़ी। तढ़ि चढ़ि नाचअ डोंबी बापुड़ी।।
हालो डोंबि! तो पुछनि सद्भावे। अइससि जासि डोंबी काहरि नावे।।

5. गुरु की महत्ता का प्रतिपादन–सिद्धों ने गुरु की महत्ता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार सहज सुख अथवा महासुख (निर्वाण) की प्राप्ति के लिए गुरु का होना अनिवार्य है। सद्गुरु के बिना साधक अपनी योग-साधना में सफल नहीं हो सकता। लगभग सभी सिद्धों ने अपनी-अपनी रचनाओं में गुरु की महत्ता को स्वीकार करके यह दर्शाया है कि गुरु ही साधक को सिद्धि प्राप्त कराने में सहायक सिद्ध हो सकता है। उदाहरण के लिए, डोम्भिपा की निम्न पंक्तियों में गुरु की महत्ता का वर्णन हुआ है–

गंगा जउना माझेर बहर नाइ।
तांहि बुड़िली मातंगि पोइआली ले पार करई।।
बाहतु डोम्बी बाह लो डोम्बी वाटत भइलउछारा।
सदगुरु पाऊ पए जाइब पुणु जिणउरा।।

6. शांत एवं शृंगार-रस का प्राधान्य–चूँकि सिद्ध मूल रूप से साधक थे, अतः उनकी रचनाओं में मुख्य रूप से शांत रस का परिपाक हुआ है। वे अपनी रचनाओं में ऊँच-नीच के भेदभाव, ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, आन्तरिक शुद्धि आदि पर बल देते हैं। अतः उनकी रचनाओं में ऐसे स्थलों पर शांत-रस का निर्वाह हुआ है। यथा–वे कहते हैं कि गंगा, यमुना, प्रयाग आदि में स्नान करने से शरीर में पवित्रता नहीं आती, मन को पवित्र करने से ही तन पवित्र होता है–

एत्थु में सुरसरि जमुणा एत्थु ले गंगा साअक।
एत्थु पयाग वणारसि, एत्थु से चन्द्र दिवाअक।।

परन्तु जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि सिद्धों ने तांत्रिक-साधना के अन्तर्गत नारी को शक्ति, महामुद्रा या डाकिनी कहकर उसके उपभोग को भी स्वीकारा है, अतः उनके काव्य में अनेक स्थानों पर दाम्पत्य-युग्मों की क्रीड़ा, उनके कार्य-व्यापार आदि का भी चित्रण हुआ है। उन्होंने प्रतीकों के द्वारा अपनी शृंगार-भावना को निरूपित किया है। यथा–

जिमिउ लोण विलिज्जइ पाणिएहि, तिमिधरणी लइ चित्त।
समरस जाइ तक्खणे, जइ पुणु हो सब चित्त।।

7. उपभोगवादी दृष्टिकोण–सिद्धों ने अपने साहित्य में उपभोगवादी दृष्टिकोण का भी परिचय दिया है। उन्होंने बौद्ध धर्म के दुखःदायी एवं कष्टकारक साधनों के स्थान पर सुख और भोग से युक्त जीवन को अपना ध्येय बताया है। उन्होंने न तो भोगों को महत्त्वहीन बताया है और न ही स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन करने का संदेश दिया है। सिद्ध कण्हपा तो स्पष्ट कहते हैं–**"जब तक अपनी गृहिणी का उपभोग न करेगा, तब तक पंचवर्ण की स्त्रियों के साथ विहार क्या होगा?"**

8. शून्यवाद की प्रतिष्ठा–सिद्धों ने शैव और शाक्त तंत्र से प्रभावित होकर शून्यवाद की महत्ता को स्वीकारा है तथा उसे अपने साहित्य में स्थान दिया है। उन्होंने शून्य को 'प्रज्ञा' के रूप में स्वीकार किया है। उनके मतानुसार शून्य चार प्रकार के हैं–शून्य, अतिशून्य, सर्वशून्य तथा महाशून्य। साधक अपनी कुण्डलिनी को जाग्रत कर इसी महाशून्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है। सिद्ध कवि तिलोपा इसी महाशून्य की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं–

सहज महातरु तिलोए, ख-सम स्वभाव रे बाणत का कोए,
जिमि जल पाणिड टालिका भेड़ न जाऊ, तिन गण रअनारे समरसे गगन समाऊ।

9. भाषा एवं शैली–सिद्धों ने अपनी रचनाओं में मुख्यतः अवहट्ठ भाषा का प्रयोग किया है जिसे डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'संध्या भाषा' भी कहा है। आचार्य शुक्ल ने सम्पूर्ण सिद्ध-साहित्य को 'अपभ्रंश-काव्य' की श्रेणी में सम्मिलित किया है। विभिन्न भाषाओं के जिन विद्वानों अथवा साहित्येतिहासकारों ने सिद्धों की प्रमुख रचनाओं को अपनी-अपनी भाषा की निधियाँ बनाने का प्रयास किया है, उनमें बंगाली, उड़िया, आसामी आदि भाषाओं के विद्वान् प्रमुख हैं। परन्तु सच यह है कि सिद्ध-साहित्य की जिस भाषा में रचना हुई है, उसमें संक्रांतिकालीन आधुनिक आर्यभाषा के स्वरूप निहित हैं। इसी कारण इसमें सभी आधुनिक आर्यभाषाओं के प्रारम्भिक स्वरूप के दर्शन होते हैं। परन्तु उनकी रचनाएँ अवहट्ठ भाषा में ही रचित माननी चाहिएं।

सिद्धों ने अपनी अवहट्ठ भाषा में तत्कालीन युग में प्रचलित लोक भाषा के शब्दों के साथ-साथ अनेक पारिभाषिक एवं सांकेतिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। इसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों में नाद, पद्म, निर्वाण, सहज, नाड़ी आदि उल्लेखनीय हैं तो सांकेतिक शब्दावली में गंगा, यमुना, रवि, ससि आदि प्रमुख हैं।

सिद्ध-साहित्य में मुख्य रूप से गीति शैली का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त उनमें उपदेशात्मक, व्यंग्यात्मक आदि शैलियों का भी प्रयोग हुआ है। उनके काव्य में दोहा, चौपाई, सोरठा, अरिल्ल, रोला आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। अतः उनके साहित्य में प्रयुक्त छन्दों में विविधता देखने को मिलती है। परन्तु यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि उन्हें काव्यशास्त्र के छन्द-विधानों का अक्षरशः पालन नहीं किया है। अतः उनके मात्रिक छन्दों में सही मात्राओं का प्रयोग तथा वर्णिक छन्दों में उचित वर्णों का प्रयोग नहीं हुआ है।

सिद्ध-साहित्य की भाषा प्रतीकात्मक है। उसमें गूढ़ भावों को प्रकट करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। सिद्धों ने अपनी भाषा को अलंकारों से सुसज्जित करने का प्रयास तो नहीं किया है, फिर भी उनकी काव्य भाषा अन्त्यानुप्रास से युक्त है। कहीं-कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग भी हुआ है।

◆◆◆

---

5. सिद्ध काव्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए प्रमुख सिद्ध कवियों के साहित्य पर प्रकाश डालिए।

अथवा

आदिकालीन सिद्ध काव्य परंपरा का परिचय दीजिए।

उत्तर– आदिकालीन सिद्ध काव्य परंपरा / प्रमुख सिद्ध कवि–हमें सर्वप्रथम इस बिंदु पर विचार करना चाहिए कि सिद्ध कौन थे। सिद्धों के साहित्य की खोज के संदर्भ में हरप्रसाद शास्त्री तथा राहुल सांकृत्यायन का विशेष योगदान है। इस विषय में रामसजन पांडेय बताते हैं, "सिद्ध शब्द का प्रयोग दो प्रकार से मिलता है। पहला प्रयोग एक विशिष्ट जाति के रूप में मिलता है; और दूसरा प्रयोग ऐसे विशेष लोगों के लिए किया गया है जो योग अथवा तपश्चर्या द्वारा सिद्धि प्राप्त कर मुक्त दशा को प्राप्त हो चुके हैं। सामान्य रूप से, चमत्कारपूर्ण, अलौकिक शक्तियों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने वाले साधक ही सिद्ध कहलाते हैं।" सिद्धों की संख्या 84 मानी गई है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन है, "बौद्ध धर्म विकृत होकर वज्रयान संप्रदाय के रूप में देश के पूर्वी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था। इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा। ये बिहार से लेकर असम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में हुए हैं, जिनका परंपरागत स्मरण जनता को अब तक है।"

ध्यान देने की बात यह है कि हिंदी भाषीक्षेत्र के पूर्वी भाग में बौद्ध धर्म के 'वज्रयान' का ज़ोरों से प्रचार हुआ। इन वज्रयानियों को 'सिद्ध' भी कहा गया। इनमें से अधिकतर सिद्धों की रचनाएँ अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं बल्कि तिब्बती भाषा में उपलब्ध अनुवादों के राहुल सांकृत्यायन द्वारा तैयार किए गए हिंदी अनुवादों से ही संतोष करना पड़ता है। वास्तव में सिद्ध साहित्य को हिंदी के आदिकाल की अपेक्षा अपभ्रंश साहित्य के अंतर्गत ही गिना जाना चाहिए। यहाँ इनका उल्लेख केवल हिंदी साहित्य के इतिहास की परंपरा का निर्वाह करने के लिए ही आदिकाल की एक प्रवृत्ति के रूप में किया जा रहा है। चौरासी सिद्धों में सरहपा, शबरपा, लुईपा, डोंभिपा, कण्हपा और कुक्कुरिपा का विशेष महत्व है। याद रखें कि सिद्ध के नाम के साथ जुड़ा हुआ 'पा' आदर का सूचक है। यह 'पाद' का लघु रूप है जिसका अर्थ है कि इनके चरण पूजनीय माने गए हैं।

सिद्ध साहित्य अपनी आध्यात्मिक साधना के उपदेशों के अलावा सामाजिक चेतना के कारण विशेष महत्व रखता है। बौद्ध धर्म ने वर्ण व्यवस्था और जातिभेद का विरोध किया था। बौद्ध मत के अनुयायी होने के कारण सिद्धों ने भी जातिप्रथा का विरोध किया। इनमें समाज के प्रत्येक वर्ग तथा वर्ण के लोग शामिल थे। डॉ. बच्चन सिंह का कथन है कि "इन सिद्धों में सभी जाति

के लोग थे। ब्राह्मण भी थे, क्षत्रिय भी थे, वैश्य भी थे और शूद्र भी।" ध्यान रखा जाना चाहिए कि ये जन्मतः ब्राह्मण, क्ष वैश्य तथा शूद्र भले ही रहे हों, परंतु सिद्ध बनने के बाद वे मात्र सिद्ध ही थे। इस प्रकार सिद्ध संप्रदाय जाति-पाति के खंडन जीता-जागता प्रमाण था।

सिद्धों के बारे में दूसरी जानने योग्य बात यह है कि इस संप्रदाय पर तंत्र का बड़ा प्रभाव था। तांत्रिक साधना के लिए ल 'भैरवी' या 'यौगिक' के रूप में साधना में भागीदार बनते थे। इसके और आगे चलकर यह मत भोगवादी बनकर विकृत भी गया। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में नाथ पंथ का उदय हुआ। आगे प्रमुख सिद्ध साहित्यकारों पर चर्चा की जा रही है।

1. सरहपा—चौरासी सिद्धों की परंपरा में सर्वप्रथम उल्लेखनीय है—सरह। उन्हें सरहपा, सरहप्पा, सरहपाद, सरोरुहपाद, सरो वज्र और राहुल वज्र जैसे कई नामों से जाना जाता है। इनका समय निश्चित नहीं है। फिर भी कुछ प्रमाणों के आधार पर राहुल सांकृत्यायन ने इनका जन्म 769 ई. में माना है। ये जाति से ब्राह्मण थे परंतु छुआछूत, ऊँच-नीच, जातिभेद आदि के खिलाफ थे। इन्होंने जातिभेद की दीवार को तोड़ते हुए एक शर (तीर) बनाने वाली कन्या को अपनी योगिनी बनाया। इसीलिए इन्हें 'सरहपा' (शर हस्त पाद) कहा जाने लगा। इनके द्वारा रचित 32 ग्रंथ बताए जाते हैं जिसमें 'दोहाकोश' विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इनके साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं—पाखंड और आडंबर का विरोध, गुरु सेवा का समर्थन, सहज भोग मार्ग से महासुख की प्राप्ति का वर्णन, भावों का सहज प्रवाह। इनकी रचनाएँ मूल रूप में प्राप्त नहीं हैं। उनका तिब्बती अनुवाद खोजकर राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश मिश्रित हिंदी में काव्य-अनुवाद प्रस्तुत किया है। जैसे—

जहँ मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाह पवेस।
तहँ वह चित्त बिराम करू, सरहे कहिय उबेस ॥

2. शबरपा—सरहपा के प्रमुख शिष्य शबरपा का जन्म वर्ष 780 ई. माना जाता है। ये क्षत्रिय थे, लेकिन शबरों के समान जीवन बिताने के कारण इन्हें 'शबरपा' कहा जाने लगा। इनकी रचनाएँ 'चर्यापद' में संकलित हैं। इनकी रचनाओं की मुख्य विशेषताएँ हैं—माया-मोह का विरोध और सहज मार्ग से महासुख की प्राप्ति पर बल।

3. लुइपा—शबरपा के प्रमुख शिष्य थे—लुइपा। चौरासी सिद्धों में इनका स्थान सबसे ऊँचा माना जाता है। इनकी साधना से प्रभावित होकर उड़ीसा के राजा और मंत्री भी इनके शिष्य बन गए थे। इनकी कविता में रहस्य भावना का वर्णन अत्यंत महत्वपूर्ण है।

4. डोंबिपा—डोंबिपा का जन्म मगध में हुआ। इनका जन्म वर्ष 840 ई. के आसपास माना जाता है। इनके गुरु का नाम विरूपा था। इन्होंने 21 ग्रंथों की रचना की थी। इनमें डोंबिगीतिका, योगाचार्य और अक्षरद्विकोपदेश के नाम प्रमुख हैं। आध्यात्मिकता और रहस्य भावना इनके साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

5. कमरिपा—ये उड़ीसा के राजवंशी थे। इन्होंने उड़ीसा में वज्रघण्टा के साथ मिलकर बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार किया था। तंत्रों पर ये विशेष रूप से विश्वास रखते थे।

6. कण्हपा—कण्हपा का जन्म 820 ई. में कर्नाटक में हुआ था। इनके बारे में डॉ. रामकुमार वर्मा ने बताया है कि "कर्नाटक में जन्म लेने के कारण इन्हें 'कर्णपा' भी कहा गया है। यों अपने श्याम वर्ण के कारण इन्हें कृष्णपा या कण्हपा नाम दिया गया। ये बहुत बड़े विद्वान थे, साथ ही सिद्धों में सर्वश्रेष्ठ कवि भी थे।" ये सोमपुरी (बिहार) में रहते थे। जालंधरपा इनके गुरु थे। चौरासी सिद्धों में अनेक सिद्ध इनके शिष्य थे। इनकी कविता की मुख्य विशेषताएँ हैं—दार्शनिकता, रहस्य भावना, गीतात्मकता, शास्त्रीय रूढ़ियों का खंडन। इनकी भाषा सरल, सहज है। इन्होंने 74 ग्रंथों की रचना की। कण्हपा की एक प्रसिद्ध उक्ति का भाव यह है कि "पंडित लोग आगम, वेद और पुराण के व्यर्थ ही चक्कर लगाया करते हैं, यह वैसा ही है जैसे कि पके श्रीफल की परिक्रमा करते हुए भँवरे का अज्ञान। अर्थात न तो भँवरा श्रीफल के रस को जानता है और न पंडित आत्मतत्व को जानता है।"

7. कुक्कुरिपा—कुक्कुरिपा का जन्म कपिलवस्तु में हुआ था। इनका जन्मकाल अज्ञात है। ये चर्परीपा नामक सिद्ध के शिष्य थे। इन्होंने भी अन्य सिद्धों की भाँति सहज जीवन का समर्थन अपनी रचनाओं में किया तथा 16 ग्रंथों की रचना की।

इन प्रमुख सिद्ध साहित्यकारों पर इस चर्चा से आप यह समझ गए होंगे कि सिद्ध साहित्य जनभाषा में रचित काव्य है जिसमें संभवतः हिंदी के प्रारंभिक रूप के संकेत रहे होंगे। यह काव्य सिद्ध मत के प्रचार की दृष्टि से रचित है। फिर भी दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रतीकों तथा रहस्यभावना के कारण इसमें कवित्व का समावेश हुआ है। इस काव्य में धार्मिक- सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार करने वाली अक्खड़ काव्यभाषा का गठन किया और योग साधना जैसे गोपनीय विषयों पर लोकचर्चा का माहौल बनाया। यह काव्य प्रवृत्ति भिक्खु वृत्ति के स्थान पर सहज जीवन का समर्थन करती है।

सिद्ध साहित्य का महत्त्व यह है कि–

1. सिद्ध साहित्य ने जो प्रवृत्तियाँ आरंभ कीं, उनका विस्तार आगे भक्तिकाल में हुआ।
2. इस साहित्य ने रूढ़िवाद का खंडन जिस अक्खड़पन के साथ किया, उसने कबीर जैसे संतों की बानियों को प्रभावित किया।
3. भक्तिकाल की सामाजिक चेतना के बीज इस साहित्य में उपलब्ध हैं।
4. कृष्ण काव्य पर भी सिद्ध साहित्य के प्रवृत्तिमार्ग का प्रभाव देखा जा सकता है।

◆◆◆

नाथ साहित्य

6. आदिकालीन नाथ साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए इसकी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

आदिकालीन नाथ साहित्य क्या है? इसकी विशेषताएँ बताइए।

उत्तर–आदिकालीन नाथ साहित्य : प्रवृत्तियाँ/विशेषताएँ–नाथ-साहित्य की परम्परा कहाँ से आरम्भ हुई–इस प्रश्न पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। राहुल सांकृत्यायन ने नाथ-पंथ को सिद्ध-परम्परा का ही एक विकसित रूप माना है। कुछ विद्वानों ने व्रजयानी सिद्धों के वामाचार के विरोध में उठे नए सम्प्रदाय को नाथ-संप्रदाय कहा है। वस्तुतः सिद्धमत व नाथमत दोनों परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं, दोनों में ही योग-साधना को अपनाया गया है। यहाँ तक कि कुछ सिद्ध-साधकों तथा नाथ-साधकों के नामों में भी समानता है जैसे–मीननाथ, जालंधरनाथ आदि। अतः नाथ-साहित्य की परम्परा के बारे में यह भी कहा जा सकता है कि वज्रयान शाखा में सिद्धों की तंत्र-साधना में बढ़ते मद्य-मैथुन के प्रयोग को देखकर कुछ साधकों ने एक अलग सम्प्रदाय बना लिया हो। परन्तु दो बातें भी ध्यान देने योग्य हैं कि नाथ-सम्प्रदाय में मूल चेतना शैव-दर्शन पर आधारित है। इस सम्प्रदाय के लोग शिव की उपासना करते हैं। दूसरी बात यह है कि सिद्ध-सम्प्रदाय में जहाँ अन्तर्मुखी-योग-साधना पर बल दिया गया था, वहीं नाथ-सम्प्रदाय में हठ-योग को अपनाया गया है। नाथ मत व सिद्ध मत की पारस्परिक घनिष्ठता को देखकर ही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है–**"नाथ-पन्थ या नाथ-सम्प्रदाय के सिद्ध-मत, सिद्ध-मार्ग, योग-मार्ग, योग-सम्प्रदाय, अवधूत-मत एवं अवधूत-सम्प्रदाय नाम भी प्रसिद्ध हैं।"** परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे नाथ तथा सिद्ध सम्प्रदाय, दोनों को एक ही मानते हैं।

नाथ-सम्प्रदाय में सर्वप्रथम आदिनाथ का नाम आता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें 'शिव' का रूप माना है। आदिनाथ के शिष्य का नाम मत्स्येन्द्रनाथ था। कहा जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ जब नारी-साहचर्य में जा फँसे थे, तब उनके शिष्य गोरखनाथ ने ही उनका उद्धार किया था। इस सम्प्रदाय में नाथों की संख्या नौ मानी गई है जिनमें मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, चौरंगीनाथ, जालन्धर नाथ आदि प्रमुख हैं।

इन सभी नौ नाथों में सर्वाधिक ख्याति-प्राप्त गुरु गोरखनाथ हैं। डॉ. नगेन्द्र ने नाथ-साहित्य का आरम्भकर्ता भी उन्हें माना है। उन्होंने ही हठयोग का उपदेश दिया था। उन्होंने ही षट्-चक्र वाला योग-मार्ग हिन्दी साहित्य में चलाया था। उनकी रचनाओं की संख्या के बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। डॉ. पीताम्बर बडथवाल ने उनकी रचनाओं की संख्या 14 निर्धारित की है जिनमें 'सबदी', 'पद', 'प्राण संकली', 'सिष्यादरसन' आदि प्रमुख हैं। उनके उपरांत अन्य नाथ-साधकों ने भी अनेक ग्रंथों की रचना की है परन्तु उनमें गोरखनाथ के भावों का ही अनुकरण किया गया है। नाथ-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं–

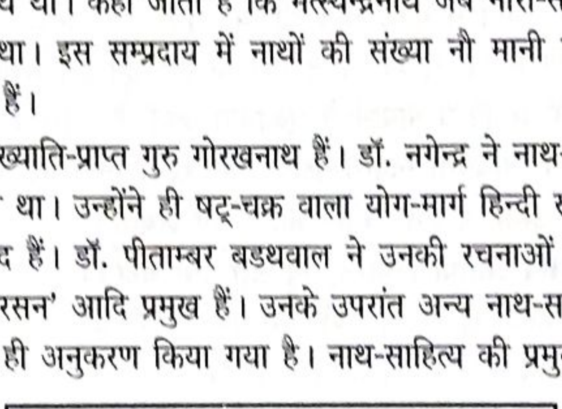

(2) निवृत्ति मूलक दृष्टिकोण

↓

(3) नारी के प्रति उपेक्षा की भावना

↓

(4) गुरु की महत्ता का प्रतिपादन

↓

(5) माँस-मद्य-सेवन का विरोध

↓

(6) सदाचार एवं नैतिकता पर बल

↓

(7) शैव मत का प्रतिपादन

↓

(8) बाह्याडम्बरों, पाखंडों आदि का विरोध

↓

(9) भाषा एवं शैली।

1. हठयोग-साधना पर बल–नाथ-साहित्य में हठयोग-साधना पर बल दिया गया है। इसके प्रवर्तक गोरखनाथ थे। हठयोगियों के प्रसिद्ध ग्रंथ **'सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति'** के अनुसार 'ह' का अर्थ **सूर्य** व 'ठ' का अर्थ **चन्द्रमा** है। इन दोनों के योग से ही हठयोग बना है। हठयोगी अपने हठयोग के बल पर प्राणायाम की प्रक्रिया पूरी करता है, फिर इड़ा, सुषम्ना के समीकरण से कुण्डलिनी को जाग्रत करता है। उसके बाद वह षट्चक्रों का भेदन करता हुआ सहज दशा या समरसता को प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में गोरखनाथ कहते हैं–

अवधू ईड़ा मारग चंद्र भणीजै, प्युगला मारग मानं।
सुषमनां मारग वांणी बोलिए, त्रिय मूल अस्थानं।।

2. निवृत्ति मूलक दृष्टिकोण–नाथ-पंथी संसार की भोग-विलास एवं उपभोग की प्रवृत्ति के स्थान पर उससे निवृत्त होने पर बल देते हैं। वे गृहस्थ, संसार आदि के बंधनों से मुक्त रहने की बात कहते हैं। उनके अनुसार जब मनुष्य का मन तथा इन्द्रियाँ इस संसार के भोग-विलास से बँध जाते हैं तो उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। इस संसार से मुक्ति के लिए मन में वैराग्य की भावना होनी आवश्यक है। वैरागी होने पर ही प्राणायाम में एकाग्रता आती है। वैराग्य से ही साधक बिना किसी रोक-टोक के योग-साधना में लीन रह सकता है। अतः नाथपंथी निवृत्ति-मूलक मार्ग को अपनाने का आग्रह करते हुए कहते हैं–

भोगिया सूते अजहूँ न जागे, भोग नहिं रे रोग अभागे।
बंदत गोरखनाथ आतमां विचारंत, ज्यूँ लस दीसै चंदा।।

3. नारी के प्रति उपेक्षा की भावना–सिद्ध-मत में जहाँ नारी को योगिनी या महामुद्रा कहकर योग-साधना में स्वीकार किया गया था, वहीं नाथपंथियों ने नारी को माया कहकर उसका तिरस्कार किया है। उन्होंने नारी को 'कामिनी' कहकर उसकी निंदा की है तथा उससे दूर रहने के लिए मनुष्य व साधक को सचेत किया है। योगी की योग-साधना में नारी बाधक बताई गई है। नाथ योगियों ने ब्रह्मचर्य, संयम, इन्द्रिय-निग्रह आदि पर विशेष बल दिया है। गोरखनाथ नारी-निन्दा करते हुए लिखते हैं–

दिवसै बाघिणी मन मोहैं, रात सरोवर सोषै।
जानि बुझि रे मूरषि लोगै, घरि घरि बाघिनी पोषै।।

4. गुरु की महत्ता का प्रतिपादन–नाथपंथियों ने अपनी रचनाओं में गुरु की महत्ता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु का होना जरूरी है। परन्तु वे किसी ढोंगी, पाखण्डी व्यक्ति को गुरु नहीं मानते। उनके अनुसार तो

गुरु ऐसा ज्ञानी होना चाहिए जो अपने अज्ञानी शिष्य को अज्ञान रूपी अंधकार से निकालकर ज्ञान के प्रकाश में लाकर खड़ा कर दे। गोरखनाथ ने तो गुरु के अभाव में प्राप्त ज्ञान को भी अधूरा माना है। वे लिखते हैं–

गुरु कीजै गहिला, निगुरा न रहिला।
गुरु बिन ग्यान न, पाईला रे भाईला।।

5. माँस-मद्य-सेवन का विरोध–जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि नाथपंथी सिद्ध पंथियों से अनेक बातों में भिन्न हैं। इस पंथ में माँस, मद्य के सेवन का निषेध किया गया है। नाथपंथियों का मत है कि माँस, मदिरा आदि के सेवन से मनुष्य में तामसी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है जिससे वह काम, क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, मोह आदि से ग्रस्त हो जाता है। ये मनोविकार साधक की साधना में बाधा उत्पन्न करते हैं। इसीलिए साधक को सात्विक वृत्ति बनाए रखने के लिए माँस, मदिरा आदि से दूर रहना चाहिए। गोरखनाथ माँस-मदिरा का सेवन करने वालों को समझाते हुए कहते हैं–

अवधू माँस भषन्त दया धरम का नास।
मद पीवत तहाँ प्राणं निरास।।
भांगि भषंत ग्यानं ध्यानं षेवंत।
जम दरबारी ते प्राणी रोवंत।।

6. सदाचार एवं नैतिकता पर बल–नाथपंथी सदाचार एवं नैतिकता पर बल देते हैं। उनकी दृष्टि में वही योगी श्रेष्ठ है जो माँस-मदिरा का सेवन न करे, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने वीर्य की रक्षा करे, सुख-दुःख को समान भाव से ग्रहण करे, चित्त को दृढ़ रखे और सांसारिक भोग-विलास में पड़कर अपने चरित्र का नाश न करे। उनके अनुसार सदाचार तथा नैतिकता के अभाव में साधक एकाग्रचित्त होकर ध्यान नहीं कर सकता। फलतः ऐसी दशा में उसके योग-साधना के प्रयास भी व्यर्थ चले जाते हैं। सदाचार व नैतिकता का आह्वान करते हुए वे लिखते हैं–

हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा धीरे-धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा, सहज रहिबा, भणत गोरवं रावं।।

7. शैव मत का प्रतिपादन–नाथपंथी शिव की उपासना करते हैं। उनके अनुसार शिव ही आदि नाथ थे। उनका मत है कि परम-शिव की इच्छा से ही शिव तथा शक्ति का जन्म हुआ और फिर सृष्टि का विकास हुआ। शिव का धर्म शक्ति है और शिव के अभाव में शक्ति व्यर्थ है। अतः दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। उनके अनुसार शक्ति के तीन रूप हैं–चित्त शक्ति, मायाशक्ति व जीवशक्ति। मायाशक्ति जब जीव को अपने अधीन करके उसे दुःखों के सागर में धकेल देती है तब जीव अपनी चित्त-शक्ति से शिव को प्रसन्न करके अपनी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। अतः नाथ पंथ में शैव-मत का प्रतिपादन हुआ है। यथा–

चारि कला रवि की, जे ससि धरि आवै।
तो सिवसक्ति संमिहवै, अंत कोई न पावै।।

8. बाह्याडम्बरों, पाखंडों आदि का विरोध–नाथ-साहित्य में बाह्याचारों, पाखंडों आदि का विरोध किया गया है क्योंकि उनके मतानुसार यदि मनुष्य का मन पवित्र है तो वह अपनी योग-साधना के बल पर सहज दशा को प्राप्त कर सकता है। अतः वे तीर्थाटन, मंदिरों में मूर्ति-पूजा आदि का विरोध करते हैं। वे तो मनुष्य के शरीर में ही सभी अड़सठ तीर्थों का वास मानते हैं। यथा–

पंथि चलै चलि पवना तूटै, नाद बिंदु अरुझाई।
घट ही भीतरि अठसठ तीरथ, कहाँ भ्रमै रे भाई।।

9. भाषा एवं शैली–नाथों के साहित्य में प्रयुक्त भाषा को **संध्या भाषा** कहा जा सकता है। वस्तुतः उनकी भाषा तत्कालीन जनभाषा के अधिक निकट है। उनकी भाषा में अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, पंजाबी, मगही आदि बोलियों के शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। इसमें सिद्ध-साहित्य के अनुरूप ही पारिभाषिक एवं सांकेतिक शब्दावली का भी प्रयोग किया गया है। उसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों में नाद, बिन्दु, इड़ा, पिंगला, शून्य, पिण्ड, सहज, सुरति आदि प्रमुख हैं। इसी प्रकार उन्होंने जिन सांकेतिक या प्रतीक-मूलक शब्दों का प्रयोग किया है उनमें गाय, मृग, हंस, गंगा, यमुना, मीन, सिंह आदि प्रमुख हैं। इन शब्दों के प्रयोग से उन्होंने अपनी रहस्यानुभूति को अभिव्यक्त किया है। नाथपंथियों की शैली में सपाट बयानी साफ दिखाई देती है। उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं व्यंग्यात्मक शैली के भी दर्शन होते हैं।

चूँकि नाथ-पंथियों में सरल, स्पष्ट ढंग से बात कहने की प्रवृत्ति पाई जाती है, अतः उनके काव्य में अभिधा शब्द-शक्ति का प्राधान्य है। परन्तु जहाँ भी उन्होंने उलटबाँसियों या प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग किया है, वहाँ पर लक्षणा शब्द-शक्ति है।

नाथपंथियों ने अपनी काव्य-भाषा को अलंकारों से सुसज्जित करने का विशेष प्रयास तो नहीं किया है, फिर भी उनकी रचनाओं में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि अलंकारों का स्वतः ही समावेश हो गया है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियों में विरोधाभास अलंकार का उदाहरण देखिए–

ऊजड़ बेड़ा नगर मझारी, तालि गागरि ऊपर पनिहारी।
कामिनी जलै अंगीठी तापै, विचि वैसन्दर थर-थर काँपै।

नाथ-साहित्य में अधिक छन्दों का प्रयोग तो नहीं हुआ है फिर भी उनकी रचनाओं में साखी, सबद, रमैनी (पद), सोरठा, चौपाई आदि छन्दों का प्रयोग देखा जा सकता है।

◆◆◆

7. आदिकालीन नाथ साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए प्रमुख नाथ कवियों के साहित्य पर प्रकाश डालिए।

अथवा

आदिकालीन नाथ काव्य परंपरा का परिचय दीजिए।

उत्तर–आदिकालीन नाथ काव्य परंपरा / प्रमुख नाथ कवि–आदिकाल के साहित्य की तीसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है–नाथ साहित्य। मत्स्येंद्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) नाथ संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। इस संप्रदाय के साधक योगी अपने नाम के साथ 'नाथ' शब्द जोड़ते हैं। इनकी वेशभूषा के संदर्भ में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि नाथ योगी को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। ये लोग मेखला, श्रृंगी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्ण-मुद्रा, बाघंबर, झोला आदि धारण करते हैं। कान फाड़कर कुंडल धारण करने के कारण ये लोग 'कनफटा' भी कहे जाते हैं।

नाथ संप्रदाय को कई अन्य नामों से भी जाना जाता है, जैसे–सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योगमार्ग, अवधूत मत। नाथों की संख्या 9 मानी गई है। इन्हें ही 'नवनाथ' कहा जाता है। इनके नाम हैं–आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ, गाहिणीनाथ, चर्पटनाथ, चौरंगीनाथ, ज्वालेंद्रनाथ, भर्तृनाथ और गोपीचंद नाथ।

1. आदिनाथ–आदिनाथ इस संप्रदाय के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। इन्हें ही 'शिव' माना गया है। ये नाथों के नाथ भी कहे जाते हैं।

2. मत्स्येंद्रनाथ–मत्स्येंद्रनाथ गोरखनाथ के गुरु माने जाते हैं। इन्हें मीननाथ तथा मछंदरनाथ भी कहा जाता है। माना जाता है कि इन्होंने योग की शिक्षा शिव से प्राप्त की थी। ये योग के ज्ञाता थे परंतु रूप-सौंदर्य पर मुग्ध होकर एक स्त्री के प्रेम पाश में बंध गए थे। इस प्रेम पाश से मुक्त कराने का प्रयास इनके शिष्य गोरखनाथ ने किया था। इस घटना के बारे में यह उक्ति प्रचलित है–'जाग मछन्दर गोरख आया।'

मत्स्येंद्रनाथ ने तंत्र विद्या संबंधी कई ग्रंथ रचे, जैसे कौलज्ञान निर्णय, कुल वीर तंत्र कुलानंद, ज्ञानकारिका। इनकी देन के बारे में डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त का कथन है, "मत्स्येंद्रनाथ ने नए पंथ का प्रवर्तन भले ही न किया हो, किंतु (सिद्धों की) सहज साधना के स्थान पर तंत्र एवं योग को प्रतिष्ठित करने का कार्य अवश्य आरंभ कर दिया था, जिसे उनके शिष्य गोरखनाथ ने पूरा किया।"

3. गोरखनाथ–गोरखनाथ का एक नाम गोरक्षपा भी मिलता है। प्रारंभ में ये सिद्ध संप्रदाय से जुड़े थे। बाद में अपना स्वतंत्र संप्रदाय 'नाथ संप्रदाय' के नाम से चलाया। इनके जन्मकाल के संबंध में विवाद की स्थिति है। नवीन खोजों में इनका समय ईसा की तेरहवीं शती माना गया है। गोरखनाथ ने हठयोग का उपदेश दिया था। यहाँ 'ह' का अर्थ सूर्य तथा 'ठ' का अर्थ चंद्र है। इन दोनों का योग 'हठयोग' कहलाता है। 'हठयोग' दार्शनिकता की दृष्टि से शैवमत के अंतर्गत है जबकि व्यावहारिकता की दृष्टि से पतंजलि के योग से संबंधित। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हें अपने युग का सबसे बड़ा नेता कहा है। गोरखनाथ के जन्म तथा उनके कार्यों की प्रशंसा करते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि "विक्रम संवत की दसवीं शताब्दी में भारतवर्ष के महान गुरु गोरक्षनाथ का आविर्भाव हुआ। शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरुष भारतवर्ष में दूसरा नहीं हुआ। भारतवर्ष के कोने-कोने में उनके अनुयायी आज भी पाए जाते हैं। भक्ति-आंदोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आंदोलन गोरखनाथ का योग मार्ग ही था। भारतवर्ष की ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें गोरखनाथ संबंधी कहानियाँ न पाई जाती हों। इन कहानियों में परस्पर ऐतिहासिक विरोध बहुत अधिक है परंतु फिर भी इनसे एक बात अत्यंत स्पष्ट हो जाती

है–गोरखनाथ अपने युग के सबसे बड़े नेता थे।" डा. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने उनकी 14 रचनाओं को प्रामाणिक माना है–सबदी, पद, प्राण संकली, शिष्यादर्शन, नरवै बोध, अभयमात्र जोग, आत्म-बोध, पंद्रह तिथि, सप्तवार, मछींद्र-गोरख बोध, रोमावली, ग्यान तिलक, ग्यान चौंतीसा एवं पंचमात्रा। डॉ. बड़थवाल ने उनकी रचनाओं को 'गोरखबानी' नाम से संकलित किया है।

गोरखनाथ ने अपने सिद्धांतों की मीमांसा जनभाषा में 'सबदियों' और 'पदों' में प्रस्तुत की गुरु की। महिमा बताते हुए वे कहते हैं–

गुर कीजै गहिला निगुरा न रहिला, गुर बिन ग्यान न पायला रे भाईला।
दूधै धोया कोइला उजला न होइला, कागा कंठे पहुप माल हंसला न भइला।

इंद्रिय निग्रह पर बल देते हुए कहा गया है–

भोगिया सूते अजहूँ न जागे। भोग नही रे रोग अभागे ॥
भोगिया कहै भल भोग हमारा। मनसइ नारि किया तन छारा ॥

सहजता पर बल देते हुए गोरखनाथ लिखते हैं–

सहज गोरखनाथ बणिज कराई।
पश्च बलद नौ गाई ॥
सहज सुभावै बाषर लाई।
मोरे मन उड़्यांनी आई ॥

4. गाहिणीनाथ–ये गोरखनाथ के शिष्य थे। इन्होंने ज्ञानेश्वर महाराज के पितामह गोविंदपंत को उपदेश दिया था। ये ज्ञानेश्वर के पिता विट्ठल के भी गुरु बताए जाते हैं। इन्हें गहिणीनाथ या गाहिणीनाथ भी कहा गया है। इनका समय 13 वीं शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है।

5. चर्पटनाथ–इनका जन्म मनुखेत पत्तन में हुआ। इनका पूर्व नाम चरकानंद नाथ था। कहीं इन्हें गोरखनाथ का शिष्य तो कहीं बालानाथ का शिष्य बताया गया है।

6. चौरंगीनाथ–ये 'पूरन भगत' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके गुरु गोरखनाथ थे। इनके विषय में किंवदंती है कि किसी आरोप में सजा के तौर पर इनकी आँखें फोड़कर और हाथ-पैर काटकर इन्हें कुएँ में डाल दिया गया था। यह भी बताया जाता है कि मत्स्येंद्रनाथ के प्रभाव से गोरखनाथ ने इन्हें सुंदर शरीर से संपन्न (चौरंगी) किया तथा रस्सी की सहायता से कुएँ से बाहर निकाला।

7. ज्वालेंद्रनाथ–ज्वालेंद्रनाथ गोपीचंद के गुरु थे। गोपीचंद की माता मैनावती भी ज्वालेंद्रनाथ से प्रभावित थीं। इन्हें भी कुएँ में डाल दिया गया था। गोरखनाथ के प्रयास तथा गोपीचंद के अनुनय-विनय के बाद ये कुएँ से बाहर निकले।

8. भर्तृनाथ–इनका नाम भर्तृहरि या भरथरी भी प्रसिद्ध है। ये जालंधरपा के शिष्य थे। भर्तृनाथ के योगी बनने की कथा बड़ी रोचक है। इसके अनुसार पत्नी पिंगला की मृत्यु के बाद गुरु गोरखनाथ के उपदेश से भर्तृनाथ का मोह दूर हुआ और वे गोरखनाथ का शिष्यत्त्व ग्रहण कर योगी हो गए।

9. गोपीचंदनाथ–ये गुरु ज्वालेंद्रनाथ के शिष्य थे। कहा जाता है कि इन्होंने जब राज्य छोड़ा तो परिवारवालों ने इन्हें रोकने का बहुत प्रयास किया, किंतु ये रुके नहीं और योगी बन गए। इनके नाम से भी कई सारी कथाएँ और किंवदंतियाँ प्रचलित हैं।

◆◆◆

जैन साहित्य

8. आदिकालीन जैन साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए इसकी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

आदिकालीन जैन साहित्य क्या है? इसकी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–आदिकालीन जैन साहित्य–जिस प्रकार आदिकालीन भारत के पूर्वी क्षेत्रों में सिद्धों ने अपने सम्प्रदाय के नियमों, सिद्धान्तों आदि के प्रचार-प्रसार के लिए हिन्दी कविता को अपना साधन बनाया था, ठीक उसी प्रकार तत्कालीन भारत के पश्चिमी

क्षेत्रों में जैन कवियों, आचार्यों आदि ने अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए काव्य को आधार बनाया। जैन कवियों, आचार्यों ने अपने धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु जिस साहित्य का निर्माण किया, उसे हम **जैन साहित्य** कहते हैं। चूँकि इस साहित्य में अपभ्रंश भाषा का प्रयोग हुआ है, अतः इसे **अपभ्रंश-साहित्य** भी कहा जाता है। इन रचनाओं में धर्म व साहित्य का सुन्दर समन्वय हुआ है।

जैन-साहित्य की परम्परा का उद्भव व विकास–जैन-साहित्य की परम्परा सातवीं शताब्दी से आरम्भ होती हैं जोकि हमें सोलहवीं शताब्दी तक निर्बाध रूप से प्रवाहित होती दिखाई देती है। **स्वयंभू** को जैन-साहित्य का प्रथम कवि माना जाता है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इस पर अपनी असहमति जताई है। यदि विषय के आधार पर जैन-साहित्य का विश्लेषण किया जाए तो हम उसे मुख्यतः निम्नलिखित वर्गों में बाँट सकते हैं–

जैन साहित्य का उद्भव एवं विकास

↓

(1) पौराणिक-ऐतिहासिक कथा पर आश्रित चरित काव्य

↓

(2) लोक के सामान्य व्यक्तियों पर आधारित चरित काव्य

↓

(3) उपदेश प्रधान मुक्तक काव्य

↓

(4) शृंगार प्रधान मुक्तक काव्य

↓

(5) छन्द व व्याकरण पर आधारित शास्त्रीय ग्रंथ

1. **पौराणिक-ऐतिहासिक कथा पर आश्रित चरित काव्य**–जैन-साहित्य में अनेक कवियों ने पौराणिक-ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित चरित-काव्य की रचना की है। ऐसे ग्रंथों में **स्वयंभू** कृत **पउम चरिउ, हेमचन्द्र** कृत **'कुमारपाल चरिउ'**, **सोमप्रभाचार्य** कृत **'कुमारपाल प्रतिबोध'**, पुष्पदंत कृत **'महापुराण'** आदि उल्लेखनीय हैं।
2. **लोक के सामान्य व्यक्तियों पर आधारित चरित काव्य**–अनेक जैन कवियों ने जैन-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए तथा उसकी महत्ता को दर्शाने के लिए अनेक लौकिक पात्रों को आधार बनाकर काव्य रचनाएँ की हैं। इन रचनाओं में कवि **आसगु** कृत **'चन्दन बालारास'**, कवि **धनपाल** कृत **'भविसयत कहा'**, **पुष्पदंत** कृत **'जसहर चरिउ'**, **जिनधर्म सूरि** कृत **'स्थूलिभद्र रास'** आदि प्रमुख हैं।
3. **उपदेश प्रधान मुक्तक काव्य**–अनेक जैन कवियों ने जैन-धर्म के नियमों, सिद्धान्तों आदि के अनुरूप जनसामान्य को अहिंसा, त्याग, संयम, साधना आदि का उपदेश दिया है। परन्तु उन्होंने इन उपदेशों को मुक्तक शैली में दोहा छन्द के द्वारा ही प्रस्तुत किया है। जैन-साहित्य के उपदेश-प्रधान मुक्तक काव्य में **देवसन** कृत **'श्रावकाचार'**, **रामसिंह** कृत **'पाहुड़ दोहा'**, **विजयसेन सूरि** कृत **'रेवंतगिरि रास'** आदि उल्लेखनीय हैं।
4. **शृंगार प्रधान मुक्तक काव्य**–यद्यपि अधिकांश जैन कवियों ने अपनी-अपनी रचनाओं में थोड़ा-बहुत शृंगार-वर्णन अवश्य किया है, परन्तु **अब्दुल रहमान** कृत **'संदेश रासक'** शृंगार-प्रधान मुक्तक काव्य में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।
5. **छन्द व व्याकरण पर आधारित शास्त्रीय ग्रंथ**–जैन-साहित्य में छन्दों का शास्त्रीय विवेचन करने वाले ग्रंथों की भी रचना हुई है। **स्वयंभू** कृत **'स्वयंभू छंद'**, **हेमचन्द्र** कृत **'छंदोऽनुशासन'**, **'हेमचन्द्र शब्दानुशासन'** आदि ग्रंथों को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है।

जैन साहित्य की प्रवृत्तियाँ/विशेषताएँ–जैन-साहित्य में अनेक विषयों को आधार बनाकर ग्रंथों की रचना हुई है। जैन-साहित्य के प्रमुख कवियों में **स्वयंभू** (पउम चरिउ, रिट्ठणेभि चरिउ, स्वयंभू छंद, पंचमि चरिउ), **पुष्पदन्त** (महापुराण, जयकुमार चरिउ, जसहर चरिउ), **धनपाल** (भविसयत कहा), **जोइंदु** (परमात्म प्रकाश, योगसार), **मेरुतुंग** (प्रबंध चिंतामणि), **अब्दुल रहमान** (संदेश रासक), **देवसेन** (श्रावका चार), **शालिभद्र सूरि** (भारतेश्वर बाहुबलि रास), **जिनधर्म सूरि** (स्थूलिभद्र रास), **आसगु** (चन्दन बाला रास),

विजयसेन सूरि (रेवंतगिरि रास), **सुमति गणि** (नेमीनाथ रास), **रामसिंह** (पाहुड़ दोहा), **सोमप्रभ सूरि** (कुमारपाल प्रतिबोध), **हेमचन्द्र** (हेमचन्द्र शब्दानुशासन, छंदोऽनुशासन, कुमारपाल चरिउ), **जिनदत्त सूरि** (चर्चरी) आदि का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार में व जैन-साहित्य के भण्डार को समृद्ध करने में अपना विशेष योगदान दिया है।

जैन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं–

जैन साहित्य की प्रवृत्तियाँ

↓

(1) बाह्य-उपासना, धर्म की रूढ़ परम्पराओं आदि का विरोध

↓

(2) रहस्यवादी-भावना

↓

(3) आत्मानुभूति पर विशेष बल

↓

(4) जैन-धर्म की महत्ता का प्रतिपादन

↓

(5) नर-नारी का रूप वर्णन

↓

(6) प्रकृति-चित्रण

↓

(7) प्रेम के विविध रूपों का चित्रण

↓

(8) विरह-वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति

↓

(9) रस-निरूपण

↓

(10) भाषा एवं शैली।

↓

(11) छंद व अलंकार-योजना तथा काव्य-रस

1. बाह्य-उपासना, धर्म की रूढ़ परम्पराओं आदि का विरोध–जैन-साहित्य में हिन्दू समाज में प्रचलित बाह्य-उपासना, मंदिर, तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा, जाति-पाति आदि का विरोध किया गया है। वे मनुष्य के लिए केवल चारित्रिक गुणों व मन की शुद्धता को ही अनिवार्य मानते हैं। जैन-साहित्य में कुछ रहस्यवादी कवियों ने भले ही गृहस्थ-जीवन की इसलिए निंदा की है कि वह साधक के मार्ग में बाधक बनता है परन्तु उन्होंने कहीं भी धर्म का पालन करते हुए गृहस्थ-आश्रम को त्याज्य नहीं बताया है। वे धन, देह, सांसारिक बंधनों आदि को तुच्छ व क्षणिक बताते हैं और इसकी नश्वरता का वर्णन कर इनसे दूर रहने का मनुष्य से आग्रह करते हैं–

देउल देवु वि सत्थु गुरु है तित्थु वि वेउविकब्बु।
बच्छु जु दीसइ कुसुनियउ इंधणु होसइ सब्बु।।

2. रहस्यवादी भावना–यद्यपि अधिकांश जैन-काव्य चरित, रास-शैली में रचित हैं, फिर भी अनेक जैन-कवियों, जैसे–योगिन्द्र, मुनिराम सिंह, सोमप्रभा सूरि आदि ने अपनी रचनाओं में रहस्यवादी भावना को भी प्रकट किया है। इन्होंने अपनी रचनाओं में मनुष्य के शरीर को मंदिर कहा है तथा तीर्थ-स्थल की यात्रा करने के स्थान पर अपने ही शरीर रूपी मंदिर में बैठे ईश्वर के दर्शन

के लिए प्रोत्साहित किया है। इन कवियों ने शरीर में ही परमात्मा का वास बताया है और उस ईश्वर को परम समाधि की अवस्था में ही प्राप्त करने का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि छिपी रहती है, पुष्प में पराग मधु छिपा रहता है, उसी प्रकार हमारे शरीर में ही परमात्मा का निवास है। यथा–

जिम वइसाणर कट्ठ महिं, कुसुमइ परिमलु होइ।
तिह तेह मइ वसइ वि, आणदा बिरला बुझइ कोइ।।

3. आत्मानुभूति पर विशेष बल–जैन कवियों ने आत्मानुभूति तथा आत्मानुभव को परम लक्ष्य बताया है। वे आत्म-अनुभव के लिए शुभ-अशुभ कर्मों का क्षय करने की आवश्यकता पर बल देते हैं। उनका मत है कि आत्मा तथा परमात्मा दोनों एक ही हैं, आत्मा के ज्ञान से ही परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। अधिकांश जैन कवियों ने भोग के स्थान पर त्याग, शास्त्र-ज्ञान के स्थान पर आत्मज्ञान व कर्मकाण्ड के स्थान पर आत्म-अनुभूति को अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। इसीलिए वे कहते हैं कि केवल पुस्तकीय-ज्ञान से मुक्ति नहीं मिल सकती। उन्होंने शुद्ध आत्मा को ही सच्चा तीर्थ व उसके ज्ञान को ही सच्चा ज्ञान माना है। यथा–

अण्णु जि तिथ्थु म जाहि जिप अण्णु जि गुरुअ म सेवि।
अण्णु जि देउ म चिंति तुंहु, अप्पा विमल मुएवि।।

4. जैन-धर्म की महत्ता का प्रतिपादन–जैन काव्य में मुख्यतः जैन धर्म के नियमों, सिद्धान्तों आदि का महत्त्व बताया गया है। रास काव्य, यथा–'चन्दनबाला रास', 'स्थूलिभद्र रास', 'भरतेश्वर बाहुबली रास' आदि में तो जैन-धर्म के महत्त्व को सिद्ध करने के लिए अन्य धर्मों के पौराणिक व ऐतिहासिक पात्रों को जैन-धर्म का अनुयायी बनने के बाद ही शांति व मोक्ष का अधिकारी दिखाया है। जैसे **'भरतेश्वर बाहुबली रास'** में दोनों वीर योद्धा भरतेश्वर और बाहुबली हिंसा को त्यागकर संसार से विरक्त हो जाते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार 'चन्दनबाला रास' में नायिका चन्दनबाला भी महावीर से दीक्षा लेने के बाद मोक्ष को प्राप्त करती है। 'स्थूलिभद्र रास' में वेश्या की संगत में रहने वाला पात्र स्थूलिभद्र भी जैन धर्म की दीक्षा लेता है तथा अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। अतः कहा जा सकता है कि जैन-साहित्य में भगवान महावीर के सिद्धान्तों–अहिंसा, करुणा, त्याग, दया आदि को अपनाने पर बल दिया गया है।

5. नर-नारी का रूप वर्णन–जैन-साहित्य के अधिकांश कवियों ने अपने पात्रों के माध्यम से नर-नारी के रूपों का विस्तृत चित्रण किया है। विशेषकर, नारी के रूप-वर्णन में उन्होंने अधिक रुचि ली है। उन्होंने विशेष परिस्थितियों, भावों आदि को ध्यान में रखकर ही नारी-रूप का चित्रण किया है और इसके लिए उन्होंने प्राकृतिक उपमानों का भी प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए, **'पउम सिरि चरिउ'** में **पद्मश्री** के तथा 'चन्दनबाला रास' में **चंदनबाला** के रूप-सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसी प्रकार जैन-साहित्य में पुरुष-रस का सुन्दर वर्णन मिलता है। **'भरतेश्वर बाहुबली रास'** में भरत एवं बाहुबली के, **'स्थूलिभद्र रास'** में मुनि स्थूलिभद्र के, **'नेमिनाथ रास'** में मुनि नेमिनाथ आदि के रूपों का वर्णन हुआ है। उनके पुरुष-रूप वर्णन में मुख्यतः वीरता, संयम एवं शौर्य को ही आधार बनाया गया है। फिर भी कहीं-कहीं भद्दे एवं कुरूप पुरुषों के रूपों का वर्णन हुआ है। उदाहरण के लिए **'जसहर चरिउ'** में उस कुबड़े के रूप-वर्णन की निम्न पंक्तियाँ देखिए, जिसे जसहर की रानी प्रेम करती है–

वव दड्ढ संकास तुण जो दीहं दंत दंतुर वयाणु।
कद्दम बुब्बुअ संणिह अइ अड्ड वियड्ड ढइ वियमु।
बिरू फुट्टपाय कयणथ विरमु।।

6. प्रकृति-चित्रण–प्रकृति ने आरम्भ से ही भारतीय कवियों को अपनी ओर आकर्षित किया है। जैन कवि भी अपने काव्य में प्रकृति-चित्रण के लोभ का सँवरण करने से रोक न सके। उनके काव्य में प्रकृति के विविध रूपों का वर्णन हुआ है। परन्तु यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि जैन कवियों ने प्रकृति के आलम्बन रूप का सबसे कम तथा पृष्ठभूमि के रूप में सबसे अधिक प्रकृति-वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रकृति का उद्दीपन रूप, मानवीकरण रूप, रहस्यवादी रूप, उपदेशिका रूप आदि का भी चित्रण किया है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियों को देखिए जिसमें प्रकृति का पृष्ठभूमि के रूप में वर्णन किया गया है ताकि प्रसंग के भाव के अनुकूल वातावरण की सृष्टि की जा सके–

डोला तोरण वारे पईहरे-पइट्टु वसंतु वसंत सिरी-हरे।
सइरूइ-वासहरेहि ख-गेउरन-आवसिउ महुअरि अन्तेपुरू।
कोयल का मिणीउ उज्जाणेहिं सुय सामंत लयाहर थाणेहि।

इसी प्रकार प्रकृति के मानवीकरण रूप का उदाहरण देखिए जिसमें कवि ने नर्मदा नदी को अभिसारिका के रूप में चित्रित किया है–

धव धवंति जे जल पब्भारा तेजि नाइं पोउर झंकारा।
पुलिणइं जाहिं बेवि सच्छायइं ताइं जे उडढणांइ ठां जायइं।।

7. प्रेम के विविध रूपों का चित्रण–जैन-साहित्य में कवियों ने प्रायः प्रेम-तत्त्व को अपने काव्य में स्थान दिया है। परन्तु उनका समग्र अध्ययन करने पर पता चलता है कि कवियों ने प्रेम के विविध रूपों को अपनाया है। वे कवि किसी मर्यादा की सीमा में नहीं बँधे हैं। उनके काव्य में विवाह के लिए प्रेम को भी स्वीकार किया गया है तो विवाह के बाद असामाजिक प्रेम को भी स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए **'चन्दनबाला रास'** में राजा शतनीक का सेनापति चन्दनबाला के साथ एक पक्षीय प्रेम करता है जिसमें वासना की मात्रा अधिक है। **'करकंड चरिउ'** में नायक पहले तो अपनी पत्नी मदनावती से अत्यधिक प्रेम करता है परन्तु शीघ्र ही वह विवाहोत्तर प्रेम-सम्बंध बनाना चाहता है तथा अन्ततः रतिवेगा से विवाह कर लेता है। 'जसहर-चरिउ' में रानी अमृतमयी अपने पति से विमुख होकर एक कुबड़े से प्रेम करती है जिसे हम असामाजिक प्रेम भी कह सकते हैं। 'स्थूलिभद्र रास' में स्थूलिभद्र को एक वेश्या के साथ प्रेम में लीन दिखाया गया है। अतः कहा जा सकता है कि जैन-साहित्य में प्रेम के विविध रूपों का भी चित्रण हुआ है।

8. विरह-वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति–जैन-साहित्य के चरित काव्यों तथा कतिपय खंड-काव्यों जैसे **'संदेश रासक'** आदि में विरह-वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु अधिकांश कवियों ने नारी की ही विरह-वेदना का अधिक चित्रण किया है। पुरुषों या नायकों की विरह-वेदना के वर्णन करने में उन्होंने कम रुचि दिखाई है। जैन कवियों ने विरह-वेदना के वर्णन में सजीवता, स्वाभाविकता और छंदगति, तीनों का अद्‌भुत सामंजस्य किया है जिसके परिणामस्वरूप उनके विरह-वर्णन में चित्रात्मकता का गुण भी स्वतः समावेश कर गया है। 'संदेश रासक' तो मानो पूरा ही विरह-वेदना पर आधारित खंडकाव्य है जिसमें नायिका अपने पति के नगर में जाने वाले अनजान पथिक के समक्ष अपनी विरह-वेदना का वर्णन करते हुए पति के पास संदेश भेजती है। पर्याप्त विचारों, भावों तथा दशाओं को अभिव्यक्त करने के बाद उसे लगता है कि अभी भी उसके कुछ भाव, मनोदशा आदि का वर्णन करना रह गया है। अतः वह चलने के लिए तैयार पथिक को पुनः रोककर अपनी विरह-वेदना का वर्णन करती है। उसके संदेश में प्रेम की सघनता, विरह की व्यथा और आत्मसमर्पण का विलक्षण समन्वय हुआ है। वह अपने पति के पास संदेश भेजते हुए कहती है कि जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया है, आज वे ही अंग विरह द्वारा जलाए जा रहे हैं–

जिहि अंगहि तू बिलसिया ते दद्धा विरहेण।

9. रस-निरूपण–जैन-साहित्य में वैसे तो लगभग सभी रसों का निरूपण हुआ है परन्तु उसमें शृंगार-रस, शांत-रस और करुण-रस की प्रधानता है। यह पहले भी कहा जा चुका है कि जैन काव्य में मुख्यतः जैन-धर्म के सिद्धान्तों की महत्ता को प्रतिष्ठित किया गया है, अतः इसमें अधिकांश स्थलों पर करुण-रस भी अन्ततः शांत-रस में परिवर्तित हो जाता है, विशेषकर, जब शोकाकुल, व्यथित, प्रताड़ित नायक या नायिका जैन-धर्म की दीक्षा ले लेते हैं। जहाँ तक शृंगार-रस का प्रश्न है, उसमें संयोग व वियोग दोनों पक्षों का वर्णन हुआ है। विप्रलम्भ शृंगार के भेदों—मान, पूर्वराग, प्रवास आदि के अनुरूप नायक-नायिका की दशा का वर्णन किया है। फिर भी यह अवश्य कहा जाएगा कि जैन साहित्य में संयोग शृंगार की तुलना में विप्रलम्भ शृंगार का अधिक विस्तार हुआ है। उदाहरण के लिए, 'संदेश रासक' तो पूर्ण रूप से विप्रलम्भ शृंगार पर आधारित है। इसमें करुण-रस का निरूपण देखिए–

ठाहि ठाहि बिमि सद्धु सुयरू अवहारी मणु।
णिसुणि किंपी जं जंपउं पहिप पसिज्जि खणु।।

10. भाषा एवं शैली–जैन-साहित्य की भाषा अपभ्रंश है। परन्तु उसकी प्रारम्भिक रचनाओं में प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा लोक भाषा के कहीं अधिक निकट है। इसे हम अवहट्‌ठ भाषा के नाम से भी पुकार सकते हैं। परन्तु जैन-साहित्य में जो प्रबन्धात्मक रचनाएँ हैं उनमें शुद्ध साहित्यिक अपभ्रंश भाषा का प्रयोग हुआ है। इन ग्रंथों की भाषा नियमों-उपनियमों से बँधी दिखाई देती है जबकि आरम्भिक रचनाओं की अपभ्रंश भाषा स्वच्छंद-सी जान पड़ती है। जैन-साहित्य की भाषा की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें ध्वन्यात्मक शब्दों का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। भाव, दृश्य, वस्तु आदि की प्रभावशाली अभिव्यंजना के लिए कवि ध्वनि के अनुसार नए शब्द का निर्माण करने का प्रयास करता है। उदाहरण के लिए, भँवरे की गुंजन के लिए कवि ने 'गुमगुंमत' निरर्थक शब्द का प्रयोग किया है।

2

हिन्दी साहित्य : भक्तिकाल (पूर्व मध्यकाल)

(क) भक्ति आंदोलन : उद्भव और विकास

1. हिन्दी साहित्य में भक्ति आंदोलन के उद्भव एवं विकास की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।

अथवा

मध्यकालीन 'भक्ति-आंदोलन' पर एक सारगर्भित लेख लिखिए।

उत्तर–भक्ति आंदोलन–हिन्दी साहित्य के इतिहास में संवत् 1375 से संवत् 1700 तक के युग को 'भक्तिकाल' का न
दिया गया है। परन्तु भारत में आरम्भ से ही धर्म-साधना की तीन प्रणालियाँ–ज्ञान योग, कर्म योग तथा भक्ति योग प्रचलित र
हैं। इन तीनों प्रणालियों में परस्पर गहरा सम्बन्ध है तथा वे परस्पर एक-दूसरे की पूरक भी हैं। भक्ति आन्दोलन के स्वरूप
कारणों को जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि भक्ति क्या है।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः। – व्यास
(पूजा आदि में प्रगाढ़ प्रेम होना ही भक्ति है।)

सा परानुरक्तिरीश्वरे। – शाण्डिल्य भक्ति
(ईश्वर में परम अनुरक्ति का नाम ही भक्ति है।)

स्नेहपूर्वकमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः। – स्वामी रामानुजाच
(ईश्वर का स्नेहपूर्वक किया गया ध्यान ही भक्ति है।)

श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। – आचार्य शु

इन परिभाषाओं से यह बात स्पष्ट है कि अनन्य भाव से भगवान की शरणागति, अहेतुक प्रेम और बिना शर्त आत्म-समर्पण
बातें भक्ति के लिए आवश्यक हैं। वस्तुतः मनुष्य के मन में ईश्वर के प्रति निर्मल प्रेम व समर्पण की भावना ही भक्ति है। इ
भावना के प्रवाह से भक्त न केवल स्वयं आनन्दित होता है, बल्कि वह दूसरों को भी आनन्दित करता है।

भारत में भक्ति कोई नई बात नहीं है अर्थात् हमें यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि भक्ति-आन्दोलन से ही भा
में भक्ति की लहर आई। वास्तव में भारतीय समाज में भक्ति की जड़ें बहुत गहरी हैं। वेदों से ही भक्ति का मूल उद्गम दिख
देता है। तब वैदिक ऋषियों ने अग्नि, वायु, सूर्य आदि को देवता मानकर उनके प्रति अपनी भक्ति-भावना प्रकट की तथा ऋच
लिखीं। उसके बाद उपनिषद्-साहित्य आता है जिसमें ब्रह्म के निर्गुण रूप की विवेचना की गई है तथा उसमें ज्ञान तत्त्व व र
तत्त्व का समावेश किया गया है। उसके बाद महाभारत का क्रम आता है जिसमें विष्णु को ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित किया ग
है। 'महाभारत' की रचना तक भारत में वैष्णव भक्ति का पूरा विकास हो चुका था। उसके बाद पुराण साहित्य तो मानो के
भक्ति के विविध रूपों, पद्धतियों आदि के लिए ही रचा गया है। अतः हिन्दी साहित्य में जिस युग को हम भक्तिकाल कहते
उससे लगभग हजारों साल पहले ही भक्ति का प्रतिपादन हो चुका था।

परन्तु इस बीच में बौद्ध धर्म व जैन धर्म का न केवल विस्तार हुआ, बल्कि इन धर्मों ने भक्ति-मार्ग की अनेक पद्धतियों पर कुठाराघात भी किया। फलतः लगभग छठी-सातवीं शताब्दी के आस-पास भक्ति का प्रवाह अत्यंत क्षीण पड़ गया। ऐसी दशा में दक्षिण-भारत में भक्ति का नया सोता फूटा और धीरे-धीरे इस नए प्रवाह ने लगभग पूरे भारत को अपनी चपेट में ले लिया। भक्ति का यही अजस्त्र प्रवाह ही 'भक्ति आन्दोलन' कहलाता है।

भक्ति आन्दोलन के सामाजिक कारण

भारत में भक्ति आन्दोलन के उदय के कई कारण हैं। सबसे पहले सामाजिक कारणों पर विचार किया जा रहा है। भक्ति आन्दोलन के पूर्व मुसलमानों के आगमन से भारतीय समाज दो वर्गों में बँटा हुआ था। एक बड़ा वर्ग हिन्दुओं का था जो कि मुसलमानों द्वारा शासित था, दूसरा वर्ग मुसलमानों का था जो अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए प्रयत्नशील थे। इस प्रकार ये दोनों वर्ग भिन्न विचारों से प्रेरित थे। हिन्दू समाज में वर्ण-व्यवस्था थी। परन्तु ब्राह्मण वर्ग ने स्वयं को इतना श्रेष्ठ सिद्ध कर लिया था कि वे दूसरे हिन्दुओं, विशेषतः शूद्रों से अपमानजनक व्यवहार करते थे। वैसे भी हिन्दू समाज में जातियों, उपजातियों की संख्या दिनों-दिन बढ़ रही थी, जिससे उनमें प्रेम, एकता व पारस्परिक संबंध का अभाव होता जा रहा था। एक जाति स्वयं को दूसरी जाति से श्रेष्ठ समझती थी। ऐसी दशा में निम्न समझी जाने वाली जातियाँ अपने-आपको अपमानित अनुभव करती थीं। चूँकि ब्राह्मणों को उनकी शिक्षा आदि के बल पर दरबारों में स्थान प्राप्त हो जाता था, इसीलिए ऐसे दुर्लभ अवसर का अनुचित लाभ उठाते हुए उन्होंने ऐसे कठोर विधानों का प्रावधान किया जिससे शूद्रों का जीवन दूभर होता गया। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित किया गया। वे मंदिरों में प्रवेश नहीं कर सकते थे। दूसरी ओर, शासकों द्वारा बेगार लेने की प्रथा का सबसे बुरा प्रभाव इन्हीं शूद्रों पर पड़ता था।

मुस्लिम समाज की भी दशा में भी कोई विशेष अन्तर न था। केवल मुट्ठी-भर मुसलमान ही शासन-व्यवस्था से जुड़े थे। साधारण मुसलमान भी हिन्दू की तरह अपमानित, प्रताड़ित और निर्धन था। शासक वर्ग ने अपनी भोग-विलासिता के लिए जन-साधारण पर अनेक प्रकार के कर लगा रखे थे। फलतः सामान्य हिन्दू परिवार को भरपेट भोजन तक नहीं मिलता था। किसानों एवं मजदूरों की दशा तो और भी दयनीय थी। उस समाज में वही मनुष्य सुखी था जिसके पास न जमीन थी, न सन्तान थी और न पत्नी थी। अपने कर चुकाने के लिए लोगों को अपनी जमा-पूँजी देनी पड़ती थी। उसके अभाव में वह अपनी जमीन, अपने मकान आदि से हाथ धो बैठता था। रोजगार के अवसर सीमित हो चले थे। केवल चाटुकारों को ही शाही नौकरियाँ मिलती थीं। फलतः शासन-व्यवस्था अयोग्य लोगों के हाथ में चली गई थी।

इन सभी कारणों से जन-साधारण के मन में निराशा, त्रास, भय आदि का समावेश हो चुका था। उन्हें अपने चारों ओर अंधेरा-ही-अंधेरा दिखाई देता था। ऐसी दशा में जब दक्षिण भारत से भक्ति आन्दोलन की लहर चली तो इस जन-साधारण को मानो एक नई चेतना मिल गई। उन्हें अपनी निराशा, कुंठा आदि को मन से निकालने का एक अवसर मिल गया। अतः यहाँ पर स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति-आन्दोलन के प्रचार-प्रसार में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों ने मुख्य भूमिका निभाई।

भक्ति आन्दोलन के सांस्कृतिक कारण

जहाँ तक सांस्कृतिक कारणों का प्रश्न है, इस संदर्भ में भी यही कहा जाएगा कि तत्कालीन युग में अधिकांश सांस्कृतिक परम्पराएँ दूषित हो चुकी थीं। धर्म के क्षेत्र में बौद्ध धर्म व जैन धर्म में बढ़ते जादू-टोने, जन्त्र-मन्त्र आदि के कारण इनका स्वरूप विकृत हो चुका था। बौद्ध अनुयायियों ने योग-साधना में मद्यपान, नारी-भोग जैसी कुरीतियों को भी एक अनिवार्य अंग मान लिया। ये दोनों धर्म, जो कि वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड, बाह्याचार के विरोध में उठ खड़े हुए थे, स्वयं कुरीतियों के शिकार हो गए थे। दूसरी ओर, शूद्रों की विवशता का लाभ उठाकर उन्हें प्रलोभन से या बलात् मुसलमान बनाने का प्रयास भी चल रहा था। इस्लाम धर्म की इसी कट्टरता के कारण सूफी मत का आगमन हुआ। समाज में बाल-विवाह, बहु-पत्नी प्रथा, विधवा-पुनर्विवाह पर रोक जैसी कुरीतियों के कारण समाज में नारी की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। वह केवल भोग-विलास की वस्तु मानी जाती थी। मुसलमान शासकों की भोग-विलास की प्रवृत्ति व उनकी शक्ति को देखते हुए हिन्दू स्त्रियों को पर्दा-प्रथा अपनानी पड़ी।

अतः जब सामाजिक परिस्थितियाँ खराब हो चुकी हों, सांस्कृतिक परम्पराएँ कुरीतियों का गढ़ बन चुकी हों; ऐसी दशा में यदि जन-साधारण को किसी सन्त या भक्त का आलम्बन मिल जाए, तो वह निश्चय ही ऐसी दलदल से निकलने के लिए उसका सहारा लेगा। यही स्थिति भक्ति आन्दोलन के प्रचार-प्रसार के समय थी।

भक्ति आन्दोलन के कारणों पर विभिन्न विद्वानों के मत

क्या भारत में भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तन के लिए मुसलमानों के अत्याचार, शोषण आदि को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है? इस प्रश्न पर विभिन्न विद्वानों ने अपने अलग-अलग मत प्रस्तुत किए हैं–

डॉ. मलिक मुहम्मद ने दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन के उद्भव के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है, **"शैवों और वैष्णवों ने मिलकर जैन और बौद्धों का बड़ा विरोध किया। उससे तमिल प्रदेश में जैन व बौद्ध धर्म की नींवें हिलने लगीं और नौवीं शताब्दी तक आते-आते इन दोनों वास्तविक धर्मों की शक्ति क्षीण हो गई।"** इस प्रकार **डॉ. मलिक मुहम्मद** ने दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन के उद्भव का कारण जैन व बौद्ध धर्म के अनुयायियों द्वारा अपनाए गए बाह्याचार, पाखंड आदि को माना है। उन्होंने यह भी कहा है कि तत्कालीन युग में इन दोनों धर्मों के अनुयायियों को दरबार में आश्रय प्राप्त था। उन्होंने वैष्णवों व शैवों पर अत्याचार भी किए थे। फलतः शैवों व वैष्णवों ने जन-साधारण के साथ मिलकर भक्ति आन्दोलन का प्रवर्तन किया।

आचार्य शुक्ल ने भक्ति आन्दोलन के उदय का कारण मुसलमानों के अत्याचारों को माना है। वे कहते हैं, **"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके मंदिर गिराये जाते थे, देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ नहीं कर सकते थे। ऐसी स्थिति में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के नीचे हिन्दू जनता पर उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"**

इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने इस धारणा को स्पष्ट किया है कि यदि मुसलमान भारत में न आते तो भक्ति आन्दोलन का भी उदय नहीं होता। परन्तु उनकी इस धारणा में एक कमी यह भी दिखाई देती है कि हिन्दू समाज में सवर्णों द्वारा शूद्रों पर किए जाने वाले अत्याचार से भी उन शूद्रों में उदासी छाई हुई थी। भक्तिकाल के अधिकांश संत कवि, जैसे कबीर, रैदास आदि इन्हीं निम्न जातियों से सम्बन्धित थे। दक्षिण-भारत के आलवार संतों में भी अधिकांश संत इन्हीं जातियों से सम्बन्धित थे।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का उद्भव व विकास' में आचार्य शुक्ल के इस मत का खण्डन किया है। वे लिखते हैं–**"यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मंदिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में, फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर प्रकट हुई वह दक्षिण में।"**

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त श्री बाल गंगाधर तिलक, श्री कृष्ण स्वामी आयंगर, डॉ. एच० राय चौधरी आदि ने भी आचार्य शुक्ल के इस मत का विरोध किया है तथा कहा है कि भारत में भक्ति-भावना का उदय पूर्ण रूप से भारतीय है। यह किसी विदेशी प्रभाव या हारी हुई मनोवृत्ति का परिणाम नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में भक्ति आन्दोलन किसी पौरुष से हताश जाति की मनोवृत्ति का परिणाम नहीं है, बल्कि यह तो एक सुव्यवस्थित दीर्घ परम्परा है। जार्ज ग्रियर्सन ने जिस घटना (भक्ति आन्दोलन) को अचानक बिजली के समान फैल जाना बताया है, उसके लिए तो सैकड़ों वर्षों से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे। दक्षिण भारत में सातवीं शती व इससे पूर्व ही वैष्णव भक्ति ने जोर पकड़ना आरम्भ कर दिया था। इसमें दक्षिण भारत के आलवार भक्तों, जिनकी संख्या बारह थी, ने अपने क्षेत्र में वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन किया। उन्होंने व नयनारों ने भक्ति आन्दोलन को आगे बढ़ाने में विशेष योगदान दिया।

आलवार सन्त और भक्ति आन्दोलन

यह निर्विवाद सत्य है कि भारत में भक्ति आन्दोलन न तो मुस्लिम सम्प्रदाय और न ही ईसाई सम्प्रदाय के प्रभाव से उत्पन्न हुआ। इस सम्बन्ध में अनेक विद्वान यह उक्ति स्वीकार कर चुके हैं–

"भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
प्रकट किया कबीर ने, सप्तदीप नवखण्ड।।"

आचार्य शुक्ल का यह मत कि भक्ति आन्दोलन मुसलमानों के आगमन के परिणामस्वरूप आरम्भ हुआ, सर्वथा अमान्य है। इसी प्रकार जो विद्वान् यह मानते हैं कि भारत में भक्ति का प्रादुर्भाव ईसाई धर्म के प्रसार के परिणामस्वरूप हुआ है, उनका मत भी निराधार है। वस्तुतः उत्तर भारत में जब सम्राट हर्षवर्धन के समय (638 ई. के आस-पास) भक्ति कुछ दब-सी गई थी, उस समय दक्षिण भारत में यह प्रबल बन चुकी थी।

आलवार सन्त

उत्तर-भारत में भक्ति-आन्दोलन का आरम्भ होने से पहले दक्षिण भारत में, विशेषकर तमिल प्रदेश में जैनों और बौद्धों को शासन की छत्र-छाया में फलने-फूलने का अवसर मिला। परन्तु उन्होंने इस अवसर का अनुचित लाभ उठाते हुए शैवों और वैष्णवों पर अनेक अत्याचार किए। इनके गृहस्थ-विरोधी विचार से साधारण जनता भी इनसे विमुख होती जा रही थी क्योंकि वह अपनी परिस्थिति के अनुरूप इन धर्मों के मूल तत्त्व को समझने में असमर्थ थी। फलतः वैष्णवों व शैवों ने जन-साधारण के साथ मिलकर जैन धर्म व बौद्ध धर्म का विरोध किया। इस प्रकार वहाँ शैव-धर्म व वैष्णव सम्प्रदाय का पुनः विकास हुआ। इस सम्बन्ध में **डॉ. मलिक मुहम्मद** लिखते हैं–**"शैवों और वैष्णवों ने मिलकर जैन और बौद्धों का बड़ा विरोध किया। उससे तमिल प्रदेश में जैन और बौद्ध धर्म की नींव हिलने लगी और नौवीं शताब्दी तक आते-आते उन दोनों नास्तिक धर्मों की शक्ति क्षीण हो गई।"**

अतः यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय उत्तरी भारत पर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे, उस समय दक्षिण भारत में भक्ति का विकास हो रहा था। दक्षिण-भारत में जिन शैवों व वैष्णवों ने भक्ति को संरक्षण प्रदान किया, उन्हें ही हम नयनार (शैव) व आलवार संत (वैष्णव) कहते हैं।

डॉ. शभुनाथ सिंह के अनुसार, **"उत्तर भारत में जब वेद विरोधी आन्दोलन और यज्ञयोग, मूर्तिपूजा, तीर्थ-व्रत और वर्णाश्रम धर्म विरोधी उग्र स्वर सुनाई पड़ रहे थे तब दक्षिण में** नयनार और आलवार संत शिव और विष्णु की भक्ति में **सराबोर होकर जनता को प्रेम का संदेश सुना रहे थे।"**

इसी प्रकार **श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर'** ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ **'संस्कृति के चार अध्याय'** में यह स्पष्ट रूप से लिखा है, **"गीता और भागवत तथा गीता और रामानुज के बीच की कड़ी ये ही आलवार संत हैं। भक्ति का दर्शन आलवारों के ग्रंथ 'दिव्य प्रबन्धम्' से आया है और कदाचित भागवत भी इसी प्रबन्धम् से प्रेरित है।"**

आलवार संतों के उत्कर्ष का समय सातवीं शताब्दी से नौवीं शताब्दी तक माना जाता है। आलवार संतों की संख्या बारह बताई जाती है। इन बारह आलवार संतों के तमिल में नाम इस प्रकार हैं–

1. भूतत्तनालवार
2. पायगै आलवार
3. पेयालवार
4. परियालवार
5. तिरुमलिसई आलवार
6. कुलशेखरालवार
7. तिरुप्पान आलवार
8. तोंडरडी पोडी आलवार
9. तिरुपंगै आलवार
10. नम्मालवार
11. मधुकर कवि आलवार
12. आंडाल आलवार।

वस्तुतः दक्षिण भारत में वैष्णव भक्तों को आलवार कहा जाता है। इन वैष्णव भक्तों ने वैष्णवी-भक्ति को अपनाया; उसका प्रचार-प्रसार किया। इनमें भगवान की स्वतः स्फूर्त अनुभूति होती थी और वे भाव-विभोर होकर ईश्वर के समक्ष आत्मसमर्पण करते थे। ये आलवार प्रायः निम्न जाति से सम्बन्धित होते थे। इनमें अपनी शिक्षा, वंश, वैभव आदि का न तो गर्व था और न ही हीन भावना थी। ये सदैव अपने इष्टदेव की भक्ति व उसके स्मरण में मग्न रहते थे।

आलवार संतों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे गीत अथवा गान के माध्यम से भागवत धर्म और वैष्णव भक्ति का प्रचार किया करते थे। इन सन्तों ने सांसारिक विषयों को अनित्य माना है। उनके अनुसार ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण के द्वारा तथा भक्ति के द्वारा ही जीव इस संसार के आवागमन से मुक्त हो सकता है तथा भगवान विष्णु का नैकट्यलाभ प्राप्त कर सकता है। उनके अनुसार, भगवान विष्णु जीवों, भक्तों आदि के कष्ट का निवारण करने के लिए स्वयं अवतार लेते हैं। श्रीराम व श्री कृष्ण भी विष्णु के ही अवतार हैं। अवतार लेने के बाद भी भगवान विष्णु की सत्ता पहले की भाँति अनादि, अनंत और सतत बनी रहती है। इन संतों ने अपने गीतों में विष्णु, राम व कृष्ण की वात्सल्यं, दास्य एवं कांता भाव से भक्ति की है। इन संतों ने भगवान के भक्तों की सेवा को भी भक्ति का एक अंग माना है। इनकी भक्ति पद्धति सभी जाति, धर्म के लोगों के लिए खुली थी।

इन आलवार सन्तों में सर्वाधिक लोकप्रिय नम्मालवार थे। ये शूद्र जाति से सम्बन्धित थे। इन्हें राम की पादुका का अवतार भी माना गया है। इनकी रचना **'तिरुवायमोलि'** में राम के प्रति अनन्य भाव की भक्ति देखी जा सकती है। इनके शिष्य मधुरकवि आलवार एक ब्राह्मण थे। आंडाल आलवार एक स्त्री-भक्त थीं और उन्होंने तत्कालीन युग में स्त्रियों में भक्ति-भावना को जाग्रत किया।

इसके अतिरिक्त सातवें आलवार संत तिरुप्पान आलवार एक चांडाल थे जबकि कुलशेखरालवार एक क्षत्रिय थे। इन्हें केरल का राजा भी माना गया है। ऐसा माना जाता है कि एक बार राम कथा को सुनते समय सीता हरण के प्रसंग पर उन्होंने तुरंत लंका पर चढ़ाई करने का आदेश दे दिया था। इनकी प्रमुख रचना **'पेरुमालतिरुमोवि'** है जिसमें राम विषयक सरस गीत संकलित हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इन आलवार संतों में जाति-पाति का कोई भेदभाव न था। इन आलवार संतों के गीत प्रायः मौखिक रूप से ही गाए जाते रहे हैं। नौवीं शताब्दी में श्री नाथमुनि ने इनके पदों अथवा रचनाओं का संग्रह किया तथा उन्हें **'दिव्य प्रबन्धम'** ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत किया।

◆◆◆

(ख) भक्तिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

निर्गुणधारा (ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेममार्गी सूफी शाखा)

2. निर्गुण भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

निर्गुण संत काव्य की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर–निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा (संत काव्य) की प्रमुख प्रवृत्तियाँ / विशेषताएँ–निर्गुण भक्ति काव्य की ज्ञानाश्रयी शाखा को संत काव्य के नाम से जाना जाता है। भक्तिकालीन काव्य में संत साहित्य का आशय उन निर्गुण कवियों से है जिन्होंने अपनी उपासना का आधार अवतारी ईश्वर के स्थान पर गुणातीत ब्रह्म को बनाया। कर्म, ज्ञान और भक्ति में से ज्ञान को आधार बनाने के कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी' शाखा कहा है। रामकुमार वर्मा ने इसे 'संतकाव्य' की संज्ञा से विभूषित किया। अनुभूति की वरीयता एवं सत्संगों का प्रभाव होने से विवेच्य काव्य में अनेक दार्शनिक सिद्धांतों एवं भक्ति धाराओं का समावेश हुआ। आलोचकों की मान्यता है कि संतकाव्य में औपनिषिदिक चिंतन, शंकर के अद्वैतवाद, नाथपंथियों की योग साधना और सूफियों के प्रेम तत्त्व का गहरा प्रभाव है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भी संत साहित्य पर सिद्धों एवं नाथों के प्रत्यक्ष प्रभाव को स्वीकार करते हुए इसे संतकाव्य की प्रेरणा पृष्ठभूमि सिद्ध किया है। संतकाव्य की परंपरा का भारतीय धर्म साधना में अपना एक विकास क्रम है। भारतीय धर्म साधना में, जैसा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट किया है कि "नाथ पंथ का उदय बौद्ध धर्म तथा तंत्रवाद के विरोध में हुआ था। इसमें योग साधना के साथ शैव धर्म की विशेषता प्रकट हुई थी, भक्ति की नहीं। नाथ पंथ के आगे की परंपरा संत परंपरा है जिसमें योग साधना को गौण एवं भक्ति को प्रधान रूप से महत्त्व मिला।"(हिंदी साहित्य की भूमिका) इस प्रकार संतकाव्य परंपरा का विकास भक्ति-भावना से सीधे जुड़ता है। आचार्य नामदेव को हिंदी का पहला संतकवि माना गया है। इस काव्य धारा के प्रमुख रचनाकारों में रैदास, गुरुनानक, मलूकदास, सुंदरदास आदि प्रमुख हैं। लेकिन स्वभाव से विद्रोही एवं **'आखिन देखी'** के धरातल पर अध्यात्म, जीवन और भक्ति का एकात्म स्थापित करने वाले कबीर निर्गुण संत कवियों में अग्रगण्य हैं।

कबीर की भक्ति ने भारतीय जनमानस को भक्ति के शास्त्रवाद से मुक्त कर उस समय अवलम्ब प्रदान किया जब वह एक ओर सिद्धों और नाथों की गुह्य साधना से ऊब रही थी तो दूसरी ओर विदेशी आक्रमणकारियों से त्रस्त थी। इसलिए यह अकारण नहीं है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को पौरुष से हताश जातियाँ ही भगवद भजन की शरण में जाने को मजबूर दिखाई दीं। श्याम सुंदरदास ने भी लिखा है, "मुसलमानों के भारत में आ बसने से परिस्थिति में परिवर्तन हो गया था। हिन्दू जनता का नैराश्य दूर करने के लिए भक्ति का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों ने हिन्दू और मुसलमान

... संतों की प्रचुर [illegible] की आवश्यकता का भी अनुभव किया। इस अनुभव के मूल में एक [illegible] भक्ति मार्ग का विकास [illegible] परमात्मा की एकता के आधार पर मनुष्यों की एकता का प्रतिपादन [illegible] और जिसके मूलाधार भारतीय [illegible] अद्वैतवाद और मुसलमानी एकेश्वरवाद के मूल भेद की ओर ध्यान नहीं दिया गया [illegible] दोनों के एक मिश्रित सिद्धांत के रूप में निर्गुण भक्तिमार्ग चल पड़ा।" (श्यामसुंदर दास, संपादक- कबीर ग्रंथावली, पृ. 15) [illegible] है कि परमात्मा की एकता के आधार पर मनुष्यों की एकता का प्रतिपादन ही निर्गुण कवियों का ध्येय था। इसलिए यह अकारण नहीं है कि सिर्फ कबीर की भक्ति भावना ही नहीं बल्कि पूरा संत काव्य दर्शन के धरातल पर भारतीय अद्वैत के [illegible], साधनात्मक स्तर पर नाथपंथ, संस्कार और [illegible] के [illegible] स्वरूप और सूफी प्रेम तत्व की [illegible] [illegible] से निर्मित हुआ है।

संतकाव्य आत्मानुभूति एवं लोकानुभूति की समरसता का काव्य है जिसमें किसी शास्त्र या सिद्धांत के प्रति आग्रह नहीं [illegible] जनमानस की भावना की स्वाभाविक परिणति है। इसने एक ओर सिद्धों की योग साधना को अपनी साधना पद्धति में [illegible] रूप में ग्रहण किया तो दूसरी ओर सूफी प्रेमतत्त्व की महत्ता को आत्मसात किया। [illegible] साहित्य पर अप्रत्यक्ष प्रभाव है। इसलिए, संत साहित्य की समस्त प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में [illegible] और एक [illegible] परंपरा के विकास का प्रभाव है। इसलिए, संत साहित्य का समग्र अध्ययन करते हुए, उसकी निम्नांकित विशेषताएँ [illegible] होती हैं–

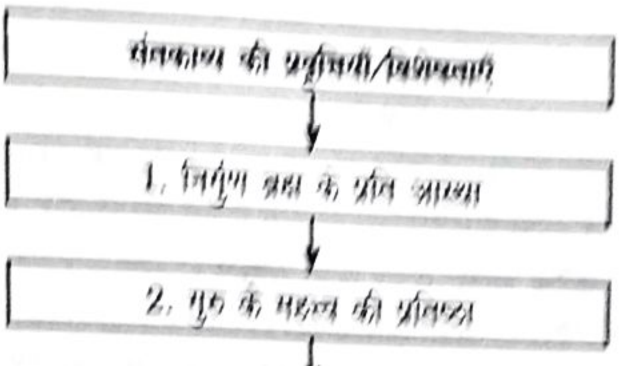

(1) निर्गुण ब्रह्म के प्रति आस्था–संत कवि ईश्वर के निर्गुण-निराकार रूप में आस्था रखते थे। उन्होंने अपने आराध्य को अलख, निरंजन, अनंत, शून्य, अक्षर, निराकार आदि विशेषणों से अभिहीत किया है। संत कवियों का लक्ष्य अविनाशी ब्रह्म की प्राप्ति है, यद्यपि उन्होंने उसे प्राप्त करने के लिए सगुण साधनों का भी प्रयोग किया है। सगुण नामों से पुकार उनकी भक्ति का आधार तो है परंतु वे पक्षधर निर्गुण ब्रह्म के ही हैं–

"दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।"

संत कवियों ने ईश्वर के वास को घट-घट में स्वीकार कर उसे कोरे ज्ञान की शुष्कता से नहीं वरन् अनुभूतिजन्य प्रे से प्राप्त करने पर बल दिया है। इसलिए सभी संतों ने निर्गुण ब्रह्म को आलम्बन रूप में अपने काव्य का केंद्रीय विषय बना अपना अनन्य प्रेम निवेदन अभिव्यक्त किया है–

"निर्गुण राम जपहुँ रे भाई।
अविगत की गति लखि न जाई।।"

भक्ति के लिए भगवान की कृपा तो सर्वमहत्वपूर्ण है ही, उसके विकसित होने के लिए उतना ही आवश्यक है सत्संग। कबीर ने वैष्णव परंपरा के अनुसार ही सत्संग एवं संगति पर काफी बल दिया है। उनके लिए सत्संग मन को सत्य के साथ जोड़ने की एक विधि है। कबीर का मानना था कि सत्य से जुड़े बिना भक्ति मात्र दिखावा और प्रपंच बन कर रह जाती है। इसलिए उन्होंने सत्संगति, खासकर साधु संगति के महत्त्व का बराबर बखान किया है। सत्संग को कई स्थान पर साधु-सेवा भी कहा है तथा साधु संगति को स्वर्ग से भी अधिक महत्त्व दिया है। उदाहरण–

"राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधु-संग में, सो बैकुंठ न होय।।"

(2) गुरु के महत्त्व की प्रतिष्ठा–भक्ति के साथ गुरुभक्ति की स्वीकृति संतकाव्य की आधारभूत विशेषता है। निर्गुण की प्राप्ति के लिए प्रायः सभी संतकवियों ने गुरु की महत्ता को प्रतिपादित किया है, क्योंकि भक्ति मार्ग का प्रदर्शक गुरु ही है। इसीलिए उसे सद्गुरु की संज्ञा से विभूषित कर ईश्वर से भी ऊँचा स्थान दिया गया है–

"गुरु गोविंद दोऊ खड़े काको लागूं पाँय।
बलिहारी गुरु आपनो गोविंद दियो बताय।।"

संतकाव्य में गुरु की चर्चा ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के समान्तर की गई है। यह गुरु साधक को मायाजनित अंधकार से बाहर निकालकर ब्रह्मानुभूति के स्निग्ध आलोक में पहुँचा देता है। इसलिए संतों ने ऐसे गुरु के प्रति अनन्य कृतज्ञता ज्ञापित की है। यथा–

"सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावनहार।।"

(3) सामाजिक चेतना–सामाजिक चेतना संतकाव्य की रचनाशीलता का वह महत्त्वपूर्ण आयाम है जिसमें संत कवियों की साधनात्मक और रचनात्मक ऊर्जा की सशक्त अभिव्यक्ति हुई। संत कवियों की सामाजिक चेतना शास्त्र सम्मत नहीं वरन् आत्मज्ञान से अभिप्रेत है। इसलिए उनकी सामाजिक चेतना के निर्माण में पीड़ा और जागृति की निर्णायक भूमिका है।

"दिन में रोजा रखत है, रात हनत है गाय।
यह तो खून वह वंदगी, कैसी खुशी खुदाय।।"

संतकाव्य लोकमानस का काव्य है। आध्यात्मिक साधना में लीन रहते हुए भी संत कवि अपने समाज के प्रति जागरूक थे इसलिए उन्होंने अपने युग की सामाजिक संचेतना का यथार्थ चित्रण तो किया है परंतु स्वयं सामाजिक भेदभाव के दंश को झेलने के कारण अतार्किक सामाजिक विषमताओं का भी कड़ा विरोध किया है। जैसे–

'जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान।।"

कथनी और करनी की अद्वैतता संतकाव्य की सामाजिक-चेतना की विशेष प्रवृत्ति है। इसमें एक ओर जन्म के आधार पर मनुष्य की कोटि निर्धारक वर्ण व्यवस्था की अंधता का उद्घाटन है तो दूसरी ओर राजसत्ता के कोप को भी निर्भीकता से शब्दबद्ध किया गया है। उदाहरण-

"अरे इन दोउन राह न पाई।
हिंदूजन की हिंदूआई, देखी तुरकन की तुरकाई।।"

(4) साधना पद्धति–संत साहित्य में साधना पद्धति के दो रूप अभिव्यक्त हुए हैं–सहज साधना और योग साधना। संतों ने सामान्य जन के लिए सहज साधना का विधान किया है और इसे सुरति, निरति, स्मृति स्वरूपा माना है। वैष्णव भक्ति पद्धति के नाम स्मरण, सत्संगति जैसे भक्ति मूल्यों के साथ अहिंसा और सदाचार को भी साधक के लिए अनिवार्य बताया है। जैसे–

"भगति भजन हरि नाव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा कर्मणा, कबीर सुमिरन सार।।"

संतों की साधना पद्धति पर सूफियों के प्रेमतत्त्व का प्रभाव उनकी अनुभूति परकता का प्रमाण उपस्थित करती है। संतों के यहाँ विरह संबंधों और ईश्वरीय अनुभूति का मापदंड है। इसलिए यहाँ विरह की पीड़ा साधक को साधना के लिए प्रेरित कर जीवन को मूल्यवान सार्थकता प्रदान करती है–

"बिरहा बिरहा मति कहो, बिरहा है सुलतान।
जिहिं घट बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान।।"

संतों की साधना पद्धति का दूसरा महत्त्वपूर्ण आधार योग पद्धति है जिस पर नाथ पंथियों का गहरा प्रभाव है। संतकाव्य का एक बड़ा हिस्सा समाधि, शून्य, इड़ा-पिंगला, सुषुम्रा, कुंडलिनी जैसे योगपरक शब्दों से निर्मित है। योग साधना पर विश्वास के कारण ही संत कवियों ने इस शरीर की कल्पना घट रूप में की है और यह माना है कि योग की विशेष साधना के द्वारा कुंडलिनी जाग्रत करके अनहद नाद की उपलब्धि की जा सकती है।

(5) रहस्यवादी भाव–संत कवियों की काव्य साधना रहस्यवादी चेतना से स्पंदित है। संतों के रहस्यवाद का बीज सिद्ध, नाथ एवं बौद्ध साधकों के हठयोग में लक्षित होता है। उन्होंने एक तरफ ब्रह्म एवं जीव के अद्वैत संबंध को विविध प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है तो दूसरी तरफ सृष्टि के अलौकिक अज्ञात रहस्यों को ज्ञान-योग की पारिभाषिक शब्दावली के माध्यम से सांकेतिक अर्थ प्रदान किया है–

"जल में कुंभ है, कुंभ में जल है, बाहर-भीतर पानी
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, इति तथ्य कहयी जानी।।"

संतों का रहस्यवाद साधनात्मक है, जिसमें ज्ञान योग का प्राधान्य है। उनकी साधना पद्धति पर कहीं-कहीं सूफी प्रभाव भी लक्षित होता है। इसलिए ज्ञान मार्गी होते हुए भी संतों ने आत्मा और परमात्मा के रहस्यात्मक संबंधों को भावनात्मक रूप प्रदान किया है। यथा–

"लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।"

(6) दार्शनिक चेतना–संत कवियों की वैचारिक चेतना संश्लेषणात्मक थी जिस पर इस्लाम के एकेश्वरवाद का भी प्रभाव लक्षित होता है। संत कवियों की दार्शनिक चेतना नाथपंथियों की योग साधना, सूफियों के प्रेम तत्त्व एवं वैष्णवी भावना के अद्वैत चिंतन से अनुप्राणित है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि संत साधक किसी शास्त्र विशेष या सम्प्रदाय विशेष के संस्कारों से जकड़े हुए नहीं थे। इसलिए अपनी आध्यात्मिक साधना के द्वारा इन्होंने जीवन और जगत के जिस चिंरतन सत्य को ग्रहण किया उसे स्वानुभूत रूप में अभिव्यंजित किया। जैसे-

"जो उग्या सो आथवै, फुल्या सो कुमिलाई।
जे चिणियाँ जो ढहि परै, जो आया सो जाई।।"

संतों ने किसी स्वतंत्र दार्शनिक चिंतन का सूत्रपात नहीं किया लेकिन वे अपनी दार्शनिक चेतना को अलग-अलग स्रोतों से ग्रहण कर उस पर अपनी अनुभूति की मुहर लगाते हैं। इसलिए उनका दर्शन पाठक को तटस्थ ज्ञान की शुष्कता में नहीं अपितु जीवन के नितांत आत्मीय प्रसंगों में ले जाता है–

"कबीर सुमिरन सार है और सकल जंजाल।
आदि संत सब सोधिया, दूजा देखौ काल।।"

संतों की दार्शनिकता का मूलाधार माया की भर्त्सना है। उन्होंने इसे त्रिगुणात्मक मानते हुए इसे ब्रह्म उपासना का बाधक बताया है। परंतु सांसारिक संदर्भों में संतों ने नारी को माया का प्रतिरूप माना है जो साधक को सांसारिक प्रपंचों में उलझा कर पथभ्रष्ट करती है। उदाहरण–

"कबीर माया पापिनी हरि सों हरे हराम।
मुख कड़ियाली कुमति की कहन न देई राम।।"

(7) बाह्याडम्बरों का विरोध–बाह्याडम्बरों का विरोध संतों की सामाजिकता का अभिन्न अंग था। समाज सुधार के लिए संतों ने बाह्यचारों की निरर्थकता का तर्कपूर्ण ढंग से पर्दाफाश करते हुए मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, नमाज, अंधविश्वासों आदि का जबरदस्त विरोध किया है। उन्होंने हिंदू धार्मिक संप्रदायों के प्रति खंडनात्मक दृष्टिकोण को अपनाया तो इस्लामी कुरीतियों का भी उपहास उड़ाया है। जैसे–

"कांकर पाथर जोरि के मसजिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, बहरो भयो खुदाय।।"
"पाथर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहाड़।
ताते ये चक्की भली पीस खाए संसार।।"

संतों की सामाजिक-चेतना मानवता को ह्रासोन्मुख एवं पतनशील बनाने वाली कुरीतियों से सीधे टकराती है। इसलिए वे आचरण की प्रामाणिकता पर बल देते हुए अनुभूत सत्य को ही प्रामणिक मानते हैं। तभी तो कबीर कहते हैं कि–

"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढ़ाई आखर प्रेम को पढ़े सो पंडित होय।।"

(8) भाषिक संरचना–काव्य संगठन के प्रति उदासीनता संतकाव्य में सर्वत्र दिखाई देती है। लोकमंगल की भावना से प्रेरित होने के कारण संत कवियों ने अपनी बात लोक प्रचलित जनभाषा में कही है जिसमें ब्रज, अवधी, राजस्थानी, भोजपुरी, पंजाबी आदि भाषाओं का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। इसलिए आचार्य शुक्ल ने संतों की वाणी को 'सधुक्कड़ी' कहा है।

संतकाव्य में अलंकार थोपे हुए नहीं हैं वरन् वाणी के आवेश से स्वतः ही शब्दगत एवं अर्थगत में रूप व्यक्त हो गए हैं। अपनी वाणी को रमणीय बनाने के लिए संतों ने उपमा, अनुप्रास, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग किया है। जैसे–

अन्योक्ति– माली आवत देखि के, कलियाँ करे पुकार।
रूपक– माया दीपक नर पतंग भ्रमि-भ्रमि मॅहिं पड़ंत।
दृष्टांत– पनी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जाति।

काव्य रूप की दृष्टि से अधिकांश संतकाव्य की रचना मुक्तक शैली में हुई है। संतकवि जिस आध्यात्मिक चेतना एवं अंतः साधनात्मक अनुभूति को अभिव्यक्त करना चाहते थे उसके लिए मुक्तक शैली ही उपयुक्त थी।

उलटबांसी का प्रयोग संत काव्य की शैली की एक प्रमुख विशेषता थी। उलटबांसियों में इन कवियों ने अपने आध्यात्मिक अनुभवों को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। जैसे-

नैया बीच नदिया डूबती जाए।
बरसे कम्बल भीगै पानी।

प्रतीकों एवं उपमानों का चयन संतकवियों ने नित्य जीवन से किया है। जैसे–घट, तारा, कुंभ, माली आदि शब्दों का प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है।

छंदों की दृष्टि से भी संत साहित्य में विविधता देखने को मिलती है। निर्गुण संतों ने चौपाई, कवित्त, रमैनी, सवैया, सबद, फाग आदि का बहुलतापूर्वक प्रयोग किया है। दोहा संतों का प्रिय छंद है–

"अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम
दास मलूका कह गए, सबके दाता राम।।"

समग्रतः संतकाव्य हिंदी साहित्य के इतिहास की वह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जिसमें अनुभव, ज्ञान, कथनी, करनी और लेखनी की एकरूपता का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। इस कविता ने जिस मानवीय और सामाजिक मूल्यों पर बल दिया वे भारतीय संस्कृति की आधारभूत पहचान बने। इतिहास के उस मोड़ पर जहाँ बाह्याचारों और अंधविश्वासों में धर्म मूल चेतना लुप्त हो रही थी, इन संत कवियों ने धर्म और मनुष्यता दोनों की रक्षा की। डॉ. नगेन्द्र के मतानुसार, **"संत साहित्य आध्यात्मिक अनुभूतियों का लेखा-जेखा मात्र नही वरन् वह प्रकाश स्तंभ है जो निराशा, वासना, प्रतिशोध और प्रतिहिंसा के अंधकार में भटकते हुए मानव समाज को शताब्दियों से प्रकाश दे रहा है और भविष्य में भी पथप्रदर्शित करता रहेगा।"**

अतः हम कह सकते हैं कि 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' के महान सिद्धांतों का अनुसरण कर संत साधकों ने समाज को जो स्वस्थ, मानसिक समतुल्यता प्रदान की है वह अन्य किसी भक्त कवि ने नहीं किया है। इसलिए संत साहित्य में लोक कल्याण और लोक संग्रह का समन्वित रूप उपलब्ध होता है।

◆◆◆

3. निर्गुण भक्ति की प्रेममार्गी सूफी शाखा की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

सूफी काव्य की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर–निर्गुण प्रेममार्गी सूफी शाखा की प्रवृत्तियाँ / विशेषताएँ–आठवीं शताब्दी में इस्लामिक कट्टरता, कोरे अध्यात्म, कर्मकांड एवं निरंकुश धार्मिकता की प्रतिक्रिया स्वरूप सूफी पंथ का उदय हुआ। भारत में सूफी मत का प्रवेश बारहवीं शताब्दी से माना जाता है। जिन मुख्य सूफी संप्रदायों का प्रवेश भारत में हुआ उनमें चिश्तिया, कादरिया, सोहरावर्दिया और नक्शबंदिया प्रमुख हैं। भारत में ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती ने चिश्तिया संप्रदाय की स्थापना की थी। इसी चिश्ती संप्रदाय (1142-1236) का मूल संबंध सूफी काव्यधारा से है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे **'प्रेमाश्रयी काव्यधारा'** कहा है। उनके अतिरिक्त विभिन्न विद्वानों ने इसे विभिन्न नामों से पुकारा है जिनमें प्रेममार्गी शाखा, प्रेम कथानक काव्य, प्रेमाख्यान काव्य प्रमुख हैं। इस काव्यधारा के रचनाकारों में जायसी, मुल्ला दाउद, कुतुबन, मंझन, नूर मुहम्मद, कासिमशाह अग्रगण्य हैं।

भारतीय भक्ति आंदोलन की लोकजागरणवादी भूमिका के निर्माण में हिंदी-सूफी-संतों ने नवीन जीवन दृष्टि प्रदान की है। उदारवादी दृष्टिकोण से संबंधित होने के कारण सूफी काव्य दूसरे धर्म से भी चेतना ग्रहण करता है। इसके विकास में भारतीय वेदांत, प्लूटो का नव अफतातूनी दर्शन, इस्लाम का एकेश्वरवाद, यूनानी दर्शन, नास्तिक मत आदि का व्यापक प्रभाव है। आचार्य शुक्ल सहित अनेक विद्वानों ने भ्रांतिवश इसे विदेशी परंपरा के रूप में स्वीकार किया है। परंतु अब शोधों से यह साबित हो चुका है कि यह वस्तुतः भारतीय परंपरा का ही क्रमिक विकास है। डॉ. नगेन्द्र के मतानुसार, "प्रेमाख्यानक काव्य हिंदी की ऐसी काव्यधारा है जिसमें भारतीय साहित्य परंपरा की विभिन्न कथानक रूढ़ियों व काव्य प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व विद्यमान है।" धर्माश्रय एवं राजाश्रय से दूर लोकाश्रय में मुक्त रूप में पोषित होने वाली यही एक परंपरा है जिसने मध्ययुगीन जनता की काव्य रुचि एवं मनोरंजन की अभिलाषा को रोमांचक आख्यानों द्वारा तुष्ट किया।

अपनी केंद्रीय प्रवृत्ति में मानवीय उदारता का पोषक होने के कारण सूफी काव्य साहित्य एवं संस्कृति के धरातल पर एक उदारता का परिचय देता है। 14वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी तक सूफी काव्य की रचना होती रही। संपूर्ण सूफी काव्य के अध्ययनोपरांत उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ मिलती हैं–

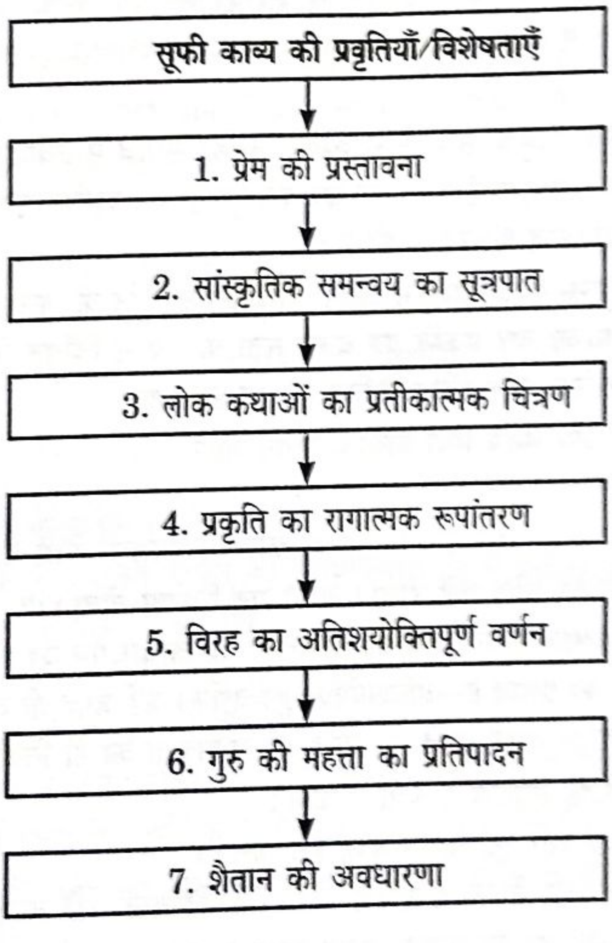

8. भावनात्मक रहस्यवाद

↓

9. कथानक रूढ़ियों का प्रयोग

↓

10. नारी विषयक दृष्टिकोण

↓

11. भाषिक-संरचना

(1) प्रेम की प्रस्तावना–समूचे मध्यकालीन काव्य में सिर्फ सूफी काव्य ही ऐसा है जो ईश्वरीय प्रेम के समानान्तर मानवीय प्रेम की भूमिका को महत्त्व देता है। प्रेम सूफी काव्य की सर्जनात्मक ऊर्जा भी है और आध्यात्मिक साधना का केंद्र भी। अध्यात्म और संसारिक जीवन में अनिवार्य विरोध देखने वाली मध्यकालीन दृष्टि को सूफियों ने इसी प्रेम के आधार पर निरस्त किया और यह बताने की कोशिश की कि प्रेमानुभव और प्रेम की साधना ही जीवन को सार्थक बनाते हैं। "मानुष प्रेम भएऊँ बैंकुंठी। नाहि त काह छार भरि मुट्ठी।"(जायसी)

सूफियों ने आत्मा को पुरुष एवं परमात्मा को स्त्री मानते हुए प्रेम के दो रूपों–इश्क हकीकी (अलौकिक) एवं इश्क मजाजी (लौकिक) को स्वीकार किया है। उनकी मान्यता है कि लौकिक प्रेम के द्वारा ही अलौकिक प्रेम को स्वीकार किया जा सकता है। यथा-

"प्रथमहि आदि प्रेम परविस्टी। तौं पाछै भई सकल सिरिस्टी।
उत्पति सिस्टि प्रेम सों आई। सिस्टि रूप भर प्रेम सबाई।"

(2) सांस्कृतिक समन्वय का सूत्रपात–भारतीय इतिहास के मध्यकाल में इस्लाम का आक्रमण और उसकी सत्ता समाज के लिए अप्रत्याशित और अपमानजनक घटना थी। इस्लामी संस्कृति और भारतीय संस्कृति के जीवन मूल्यों से उपजे तनाव और सांस्कृतिक भिन्नता को सूफियों ने दूर करने का प्रयास किया।

समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए सूफियों ने इस्लाम में प्रेम का समन्वय किया, भारतीय लोक कथाओं के माध्यम से सूफी दर्शन को व्यक्त किया, उर्दू लिपि में अवधी भाषा को समृद्ध किया था प्रचलित प्रबंध काव्य परंपरा को मसनवी शैली में प्रस्तुत किया।

(3) लोक कथाओं का प्रतीकात्मक चित्रण–सभी सूफी कवियों ने हिंदू समाज में प्रचलित लोक कथाओं को अपने प्रबंध का आधार बनाया। ये लोक कथाएँ मूलतः प्रेम कथाएँ हैं जिनमें प्रेम की त्रासदी को दर्शाया गया है। प्रेम के त्रासद पक्ष के आधार पर सूफी कवियों ने अपने काव्य की अंतर्वस्तु की रचना की है।

(4) प्रकृति का रागात्मक रूपांतरण–सूफी काव्य ने अपने आध्यात्मिक दर्शन के आधार पर संपूर्ण प्रकृति को खुदा के नूर की अभिव्यक्ति माना है। सूफियों ने पहली बार प्रकृति को चेतन सत्ता के रूप में चित्रित किया है। वियोग के क्षणों में समूची प्रकृति दुख में डूबी और संयोग में उल्लसित और हर्षित चित्रित की गई है। यथा–

"सखि मुख अंग मलय गिरी बासा। नागिन झांपि लीन्ह चहूँ पासा।।"

सूफी काव्य में पहली बार प्रकृति का रागात्मक व उल्लासमय चित्रण हुआ है। उन्होंने अपने सुख-दुख की अनुभूति से प्रकृति को जोड़ा। बारहमासा और षड्ऋतु की अपूर्व छटा इन कवियों के काव्य में उपलब्ध होती है। जैसे–

"फिरि-फिरि रोई कोइ नहिं डोला। आधी रात बिहंगम बोला।।"

(5) विरह का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन–सूफी काव्य की मार्मिकता का आधार प्रेम का वियोग पक्ष है। आलोचकों का मानना है कि विरह-वर्णन पर ईरान के सूफियों का प्रभाव है–अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन। कई जगह तो वर्णन वीभत्स, ऊहात्मक व कुरुचिपूर्ण भी है। लेकिन सामान्यतः अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हुए विरह की मार्मिकता का ही निर्वाह किया गया है। जैसे–

"पिय सों कहहू संदेसड़ा हे भौरा हे काग।
सो धनि विरहें जरि मुई तेहिक धुओं हम लाग।।"

किंतु इसके बावजूद सूफी काव्य का विरह आधुनिक पाठक को विश्वस्त नहीं करता है क्योंकि अतिशयोक्ति में प्रायः मार्मिकता का उल्लंघन होता है; जैसे–गेहूँ का पेट फटना, कौवा काला हो जाना, इत्यादि।

(6) गुरु की महत्ता का प्रतिपादन–सूफियों ने गुरु को पीर मानते हुए उन्हें अज्ञानता से बाहर करने वाला स्वीकारा है जो जीवन के वास्तविक अर्थ को बताता है। सूफियों का मानना है कि गुरु के बिना आध्यात्मिक अनुभूति का स्फुरण ही संभव नहीं है। वह आध्यात्मिक साधना के मार्ग में आने वाली तमाम बाधाओं की सामना करने की शक्ति और उससे मुक्त होने का उपाय बताता है। जैसे–

"गुरु सुआ जेहि पंथ देखावा,
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।।"

(7) शैतान की अवधारणा–शैतान सूफी काव्य का एक अनिवार्य प्रमेय है जिसकी अवधारणा भारतीय अद्वैत की माया से मिलती-जुलती है। लेकिन सूफी काव्य में शैतान की भूमिका को सकारात्मक माना गया है क्योंकि शैतान द्वारा उत्पन्न की गई बाधाओं को तोड़कर पाया गया लक्ष्य साधक की उपलब्धि को अनुभूति से भर देता है। लौकिक स्तर पर भी शैतान जीवन को संघर्ष से भरकर प्रामाणिकता देता है।

(8) भावनात्मक रहस्यवाद–सूफी की रहस्य भावना ने मनुष्य की एकता का प्रतिपादन किया और इस रूप में उसने प्रगतिशील भूमिका अदा की। रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, "भावनात्मक रहस्यवाद की जैसी सृष्टि सूफी काव्य-रचना में हुई है वैसी कबीर आदि संतों में नहीं हुई है।" इस धारा के कवियों का प्रेम अमूर्त के प्रति होने के कारण रहस्यवादी हो गया किंतु वह सरसता से युक्त है। गुरु की प्रेरणा से आत्मा में ब्रह्म के प्रति प्रेम का अंकुर उगा तभी शैतान बाधक बन गया। ऐसी स्थिति में आत्मा अपने ब्रह्म के दर्शन के लिए तड़प उठी और यह स्थिति भी भावनात्मक रहस्यवाद के तत्व को मुखरित करती है–

"हाड़ गए सब किंगरी, नसें भई सब तांति।
रोंव रोंव सो धुनि उठे, कहौ बिथा के ही भांति।।"

रहस्यवाद के चारों सोपान (जिज्ञासा, कल्पना, विरह और मिलन) की चर्चा सूफियों ने विस्तृत रूप में की है।

(9) कथानक रूढ़ियों का प्रयोग–सूफी कवि ने कथानक को गति देने तथा विशेष प्रकार के आकर्षण में बांधने के लिए परंपरा से प्राप्त भारतीय कथाओं में कथानक रुढ़ियों का प्रयोग किया है; जैसे–पशु-पक्षी द्वारा नायिका के रूप का वर्णन, मंदिर, चित्रशाला में नायिका दर्शन, स्वप्न में नायिका को देखकर प्रेम होना। इसके साथ ही कुछ नयी कथानक रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है जो ईरानी साहित्य का प्रभाव है। इसे भी सूफी कवियों ने भारतीय वातावरण के अनुकूलन बनाने का प्रयत्न किया है, जैसे–परी या देव की सहायता से कार्य संपन्न होना, राजकुमारी द्वारा प्रेमी को गिरफ्तार कर लेना।

(10) नारी विषयक दृष्टिकोण–सूफी कवियों ने प्रेम के प्रसार के लिए नारी को नूर सिद्ध किया, जिसके बिना संसार सूना है। ईश्वर को भी नारी घोषित किया गया जिसे पाने के लिए आत्मारूपी पुरुष विकल रहता है। परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार, "सूफी कवियों ने नारी को यहाँ अपनी प्रेम साधना के साध्य रूप में स्वीकार किया है जिसके कारण वह इनके यहाँ किसी प्रेमी के लौकिक जीवन की निरी योग्य वस्तु मात्र नहीं रह जाती।"(हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा) इस प्रकार नारी के प्रति परंपरागत मध्य-युगीन दृष्टि का निषेध कर सूफी काव्य ने पहली बार ऐतिहासिक संदर्भों में नारी को सम्मान की दृष्टि से देखा।

(11) भाषिक-संरचना–हिंदी के सूफी काव्यों की काव्य भाषा ने लोक भाषा की सर्जनात्मक शक्ति को उजागर किया है। इनकी भाषा ठेठ अवधी है, साथ ही मुहावरेदार भी। इन्होंने अरबी, फारसी, उर्दू, भोजपुरी एवं लोकभाषा के शब्दों का बहुतायत से प्रयोग किया है जो इनकी समन्वयवादी दृष्टि का परिचायक है।

"तुरकी, अरबी, हिंदूई भाषा जेति आहि।
जहि महँ मारग प्रेम कर सबै सरा है ताहि।।"

अलंकार के क्षेत्र में सूफियों ने प्रचलित परंपरा का ही अनुसरण किया है। समासोक्ति एवं अन्योक्ति सूफियों का प्रिय अलंकार है। अरबी फारसी से प्रभावित होने पर भी सूफियों की पूरी उपमान योजना भारतीय है। फारसी ढंग की वर्णन शैली में भारतीय उपमान की योजना हृदय पर एक विशेष छाप छोड़ती है।

"तन जस पियर पात भा मोरा।"

रहस्यात्मकता की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का प्रयोग सूफी काव्य में अनिवार्य हो जाता है। इन कवियों ने अपनी रचनाओं में कुछ शब्दों का सांकेतिक प्रयोग किया है। सूफी काव्य में विरह-वर्णन का प्रतीकात्मक महत्त्व है–

"विरह के आशि सूर जरि काया। रातिऊ दिवस जरै ओहि ताया।"

सूफी कवियों ने बिम्ब योजना का भी बड़ा बारीकी से सूक्ष्म चित्रण किया है। जैसे—

"सरवर तीर पदमिनी आई। खोपा छोरि केस मुकलाई।।"

इस काव्यधारा के कवियों ने चौपाई और दोहा छंदों को अपनाया है। फारसी लिपि तथा मसनवी शैली का प्रयोग इस काव्यधारा की अपनी विशेषता है।

हिंदी के प्रायः सभी सूफी कवियों ने एक ही प्रकार के काव्य रूपों का उपयोग किया है— प्रबंध काव्य। सूफी काव्य लौकिक प्रेम संबंधों से निर्मित होने के कारण कथा का आश्रय लेता है। इसलिए प्रबंधात्मकता के मूल बीज सूफी साधना के दार्शनिक चेतना में ही निहित हैं। 'पद्मावत' इस काव्य धारा का एकमात्र महाकाव्य है।

समग्रतः कहा जा सकता है कि काव्य सौंदर्य और काव्य-मूल्य की दृष्टि से सूफी काव्य हिंदी कविता की महत्तम उपलब्धि है। भावों की मार्मिकता, आध्यात्मिक अनुभव और काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से इस कविता का महत्त्व तो है ही, जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों के धरातल पर भी यह इस देश की महान सांस्कृतिक एवं समन्वयवादी परंपरा का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसमें भारतीय संस्कृति के विकास क्रम की रूपरेखा यथार्थ रूप में निहित है।

◆◆◆

4. संत काव्य के प्रमुख कवियों एवं उनके साहित्य का परिचय दीजिए।

उत्तर—संत काव्य के प्रमुख कवि—

1. कबीर या कबीरदास—निर्गुण संतकाव्य धारा में कबीर का स्थान सर्वोपरि है। कबीर के जीवन को लेकर कई किंवदंतियाँ साहित्य में मिलती हैं। उनके जन्म, जाति, माता-पिता, यहाँ तक की गुरु को लेकर भी भिन्न-भिन्न विचार आलोचकों ने प्रस्तुत किए हैं। हिंदी साहित्य के इतिहासकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, **"कबीर का जन्मकाल जेठ सुदी पूर्णिमा, सोमवार, विक्रम संवत् 1456 माना जाता है।"** साहित्यिक कृतियों में यह भी प्रचलित है कि उनका जीवन 120 वर्ष का रहा। इन सभी किंवदंतियों से परे यदि हम आचार्य शुक्ल के हिंदी साहित्य को प्रामाणिक मानते हुए देखें तो कबीर का जन्म संवत् 1456 और मृत्यु संवत् 1575 माना जाता है।

कबीर के जन्म और मृत्यु के समान ही उनके माता-पिता के सम्बन्ध में भी कई मत प्रचलित हैं। अधिकांश आलोचक उन्हें विधवा ब्राह्मणी का पुत्र मानते हैं तो कुछ जुलाहा जाति से सम्बंधित बताते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने इतिहास में कबीर को विधवा कन्या के गर्भ से पैदा हुआ मानते हैं जिसे वह लहरतारा के ताल के पास फेंक आयी। नीरू नाम के जुलाहे ने उस बालक का पालन-पोषण किया और यही बालक कबीरदास कहलाया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ "कबीर" में जुलाहे जाति का हिन्दू या मुसलमान से कैसा और क्यों सम्बन्ध है, क्या वयनजीवी जाति ही जुलाहा है—ऐसे अनेकानेक प्रश्नों पर विस्तार से चर्चा की है। वे लिखते हैं, "उत्तर भारत के वयनजीवियों में कोरी मुख्य हैं। बेन्स जुलाहों को कोरियों की समशील जाति ही मानते हैं। कुछेक पंडितों ने यह भी अनुमान लगाया है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करने वाले कोरी ही जुलाहे हैं। यह उल्लेख किया जा सकता है कि कबीरदास जहाँ अपने को बार-बार जुलाहा कहते हैं, वहाँ कभी-कभी अपने को कोरी भी कह गए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि कबीरदास के युग में जुलाहों ने मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था पर साधारण जनता में तब भी कोरी नाम से परिचित थे।"

कबीर के गुरु कौन है, उन्होंने किस से शिक्षा ली, इस विषय पर भी कई मत प्रचलित हैं। कुछ आलोचक परम्परा से रामानंद को ही कबीर के गुरु के रूप में मानते हैं, किन्तु कुछ इसपर एक मत नहीं हैं। 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि "कबीर पर भक्ति के संस्कार बाल्यावस्था से ही यदि पड़ने लगे तो कोई आश्चर्य नहीं। रामानंद जी के महात्म्य को सुनकर कबीर के हृदय में शिष्य होने की लालसा जगी होगी। कहा जाता है कि एक दिन वे एक पहर रात रहते ही उस पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर जा पड़े जहाँ से रामानंद जी स्नान करने के लिए उतरा करते थे। स्नान को जाते समय अँधेरे में रामानंद का पैर कबीर के ऊपर पड़ गया। रामानंद जी बोल उठे 'राम-राम कह'। कबीर ने इसे ही अपना गुरुमंत्र मान लिया और अपने को गुरु रामानंद जी का शिष्य कहने लगे। कबीरपंथी में मुसलमान भी हैं। उनका कहना है कि कबीर ने प्रसिद्ध सूफी मुसलमान फ़क़ीर शेख तकी से दीक्षा ली थी।"

कबीर जिस दौर में हुए उस दौर में उत्तर में हिन्दू और मुसलमान दो जातियां प्रधान थी। दोनों के अपने अपने आचार-विचार, रीति-नीति और मान्यताएं थीं। मुसलमान जहाँ विध्वंसक शासक वर्ग के रूप में थे तो हिन्दू शासित। इसलिए मुसलमान जजिया

आदि कर लगा कर अपने बल का प्रयोग करते थे और हिन्दुओं को जबरन धर्म परिवर्तन करने के लिए बाध्य करते थे। दूसरी ओर हिन्दू जाति के धर्माडंबर थे जहाँ धर्म के ठेकेदार अनेक पाखंडों और कर्मकांडों में जनता को फँसा कर, पाप-पुण्य का भय दिखाकर उन पर अत्याचार कर रहे थे। ऐसे में कबीर अपने काव्य के माध्यम से इस सामाजिक विषमता, धार्मिक आडंबर को दूर करने का प्रयास करते हैं। कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्म में हो रहे अत्याचार और आडम्बर का विरोध करते हैं। हिन्दू समाज में पूजा-पाठ और कर्मकांड केवल एक दिखावा मात्र रह गया था। ब्राह्मण कर्मकांड का सहारा लेकर यजमानों को ठगते थे, वहीं मुसलमान रोजा, नमाज और अजान में फँसे थे। कबीर साफ़ कहते हैं कि इन दोनों को ही सही मार्ग नहीं मिला--

अरे इन दोउन राह न पाई
मुसलमान के पीर औलिया मुरगी, मुरगा खाई।

वहीं समाज में फैले आडम्बर का भी खुलकर कबीर विरोध करते हैं–

माला फेरत जुग गया, गया न मनका फेर
कर का मनका डारि कै मन का मनका फेर।

कबीर भक्त पहले थे और कवि बाद में, इन जैसे प्रश्नों में उलझे बिना उनकी उपलब्ध रचनाओं से हमें यह भी पता चलता है कि अपनी रचनाओं में वे एक समाज सुधारक की तरह भी प्रस्तुत होते हैं। उनके काव्य का उद्देश्य जनता को उपदेश देना और सही रास्ता दिखाना है। उन्हें समाज में जो भी गलत लगा उसका उन्होंने निर्भीकता से खंडन किया। अनुभूति की सच्चाई और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता कबीर की सबसे बड़ी विशेषता है। वे जन्म के आधार पर ऊंच-नीच की भावना और भेदभाव का विरोध करते हैं और इसका कारण वे बहुदेवोपासना को मानते हैं। उन्होंने मूर्तिपूजा का खंडन कर कण-कण में राम को माना है। वे सामान्य जनता को समझाते हैं कि मूर्ति पूजा से भगवान नहीं मिलते। इससे तो अच्छा है कि घर की चक्की को पूजा जाये–

पाहन पूजे हरि मिलै तो मैं पूजूँ पहाड़।
ताते या चाकी भली पीस खाय संसार।

कबीर के परमतत्त्व जिन्हें वे "राम" नाम से स्मरण कहते हैं, वे निर्गुण ब्रह्म हैं जो तुलसी के राम के समान लीला नहीं करते। वे कहते हैं–

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना
राम नाम का मरम है आना।

अर्थात् कबीर के राम निर्गुण निराकार हैं जिसे कोई देख नहीं सकता। वह न शून्य है न स्थूल, उसका कोई रूप नहीं, वह न दृश्य है न अदृश्य। उसे न गुप्त कहा जा सकता है न उसे प्रकट ही कह सकते हैं–

अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई
सुनि अस्थूल रूप रूप नहीं रेखा, द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं।

इस अरूप निराकार तत्त्व को कबीर इस नश्वर दुनिया में एकमात्र अविनाशी मानते हैं, किन्तु इस असीम सूक्ष्म को समझ सकना सभी के बस की बात नहीं। क्योंकि उसका न रूप है न आकार। ऐसे परमब्रह्म के दर्शन हेतु गुरु के महत्त्व को कबीर प्रमुख मानते हैं। गुरु ही हमें इस परमब्रह्म का ज्ञान करा सकता है। वे मानते हैं कि इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत के पीछे भी वही अदृश्य रूप विद्यमान है। किन्तु इसको चलाने वाले अगोचर ब्रह्म को कोई नहीं देख सकता।

लीला करि-करि भेष फिरावा, ओट बहुत कुछ करत न आवा
औ खेलै सब ही घट माँही, दूसर के लखै कछु नाहीं।

अतः कबीर की भक्ति निर्गुण भक्ति है। वह जिस परमात्मा की परिकल्पना करते हैं वह अनंत अविनाशी है, रूप-रंग-देह रहित है। उनके राम अद्वैत रूप में सर्वव्यापी हैं।

'मसि कागद छुओ नहिं कलम गह्यो नहिं हाथ' को मानने वाले कबीर ने न तो विधिवत विद्या ही ग्रहण की, न ही काव्यशास्त्र की कोई जानकारी उनके पास थी और न ही वे इसके समर्थक थे। उन्होंने तो भाव-विभोर होकर जो कुछ कहा वही काव्य बन गया। किन्तु काव्य निर्माण के लिए जिस प्रतिभा की आवश्यकता होती है वह कबीर में प्रभूत मात्रा में विद्यमान थी। भाषा पर उनका जबरदस्त अधिकार था। यही कारण है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी उन्हें "वाणी के डिक्टेटर" मानते हैं और कहते हैं जिस बात को उन्होंने जिस रूप में चाहा, उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया। कबीर संत थे; उन्होंने जो भी कहा आत्मानुभव से कहा। जीवन के विविध रूपों को उन्होंने देखा, भोगा और परखा था। तभी वे कहते हैं–

तू कहता है कागद लेखि, मैं कहता हूँ आँखिन देखी
मैं कहता सुरझावन हारि, तू राख्यौ उरझाई रे।

कबीर की इन्हीं उक्तियों को उनके शिष्य धर्मदास ने "बीजक" नाम से संकलित किया, जिसके तीन भाग हैं– 'साखी', 'सबद', 'रमैनी'। 'साखी' दोहा छंद में है, 'साखी शब्द "साक्ष्य" से बना है। जिसने किसी घटना अथवा दृश्य को अपनी आँखों से देखा है उसे 'साक्षी' कहते हैं–

साखी आंखी ज्ञान की समुझि देख मैं मांही
बिनु साखी संसार का झगरा निपटत नाहिं।

कबीर की साखियाँ ज्ञान की आँखें हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि जिस काव्य में स्वानुभूत ज्ञान का वर्णन है उसे साखी कहते हैं। "सबद" गेय पद को कहा जाता है। कबीर के जिन पदों में परमात्मा को प्राप्त करने के उपाय हैं, उन्हें सबद कहा गया है। इसी प्रकार, "रमैनी" का अर्थ है–रमण करने वाली। रमैनी 16 मात्राओं वाला चौपाई छन्द है। रमैनी में सृष्टि और जगत के ऊपर कबीर के विचार दृष्टव्य हैं। कबीर ने निर्गुण ब्रह्म को अपना आराध्य स्वीकारा है और उसके समक्ष एक सच्चे भक्त की तरह दीनता प्रकट की है। गुरु की महिमा, आचरण, आत्मनिग्रह, माया से मुक्ति आदि विषय उसके काव्य की विशेषता है।

कबीर का काव्य प्रयत्न साध्य नहीं है, तथापि उसमें रसगत रमणीयता एवं भाव सौंदर्य का अनायास विधान हुआ है। अतः कह सकते हैं कि एक भक्त, एक समाजसुधारक के रूप में प्रसिद्ध कबीर की कविता में काव्यत्व के सभी रूप प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हैं। कबीर के इन्हीं गुणों और विशेषताओं का परिणाम है कि कबीर आज के युग सन्दर्भ में भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने मध्यकाल में थे।

(2) रैदास या रविदास–निर्गुण भक्तिधारा में कबीर के बाद रविदास का नाम प्रमुख है। भारत के कई स्थानों में रविदास ही रैदास नाम से प्रसिद्ध हुए। कबीर की ही भाँति इनके जन्म पर भी कई आलोचकों के मत भिन्न-भिन्न हैं। "भक्तमाल" के अनुसार रैदास का जन्म 1299 ई. में काशी में हुआ। रैदास निम्न जाति में उत्पन्न हुए, इसके प्रमाण उनके कई पदों में मिलते हैं, जैसे–"कह रैदास खलास चमारा।" यह भी प्रसिद्ध है कि रैदास मीराबाई के गुरु थे।

कबीर की भाँति रैदास भी संत कवि थे और कबीर की ही तरह उन्होंने भी गुरु रामानंद से दीक्षा ली थी। उनके पद से यह बात प्रामाणिक प्रतीत होती है–

रामानंद मोहि गुरु मिल्यौं, पाया ब्रह्म विलास
रामनाम अभी रस पिया, रविदास हि भयौ खलास।

रैदास मूलतः संत थे। अतः कबीर की ही भाँति उन्होंने भी निर्गुण भक्ति को ही अपना आधार बनाया तथा समाज में फैले धर्म के ठेकेदारों को फटकारा भी। वे कहते हैं कि परब्रह्म को किसी मूर्ति में नहीं खोजा जा सकता, वह तो निराकार है–

बाहर खोजत का फिरह, घट भीतर ही खोज
रविदास उनमनि साधिकर, देखहूँ पिया कूं ओज।

ब्रह्म की सत्ता और स्वरूप की अभिव्यक्ति में वे सपनी असमर्थता स्वीकार करते हैं तो उसे एक सुनिश्चित रूप देने के लिए उन्होंने ईश्वर के समस्त रूपों में ऐक्य और अभिन्नता के दर्शन भी किए हैं। मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि बाह्य विधानों का विरोध कर उन्होंने निर्गुण साधना पर बल दिया। अपने भावों और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने सरल व्यावहारिक ब्रजभाषा को अपनाया जिसमें अवधी, राजस्थानी, खड़ीबोली और उर्दू-फारसी के शब्दों का मिश्रण है–

अब कैसे छूटे राम नाम रट लागी
प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी, जाकी अंग अंग बस समानी
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवन चंद चकोरा
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती
प्रभु जी तुम मोती हम धागा, जैसे सोने मिलत सुहागा
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करैं रैदासा।

इस तरह उन्होंने अपने आप को परम ब्रह्म को पूरी तरह समर्पित कर दिया था। कथित निम्न जाति में जन्म लेकर भी उनकी उत्कृष्ट साधना पद्धति ने उन्हें अपने युग का भक्त कवि बना दिया। रैदास ने अन्य निर्गुण संतों की तरह वेद का भी विरोध किया। उनके लिए राम और रहीम दोनों एक ही हैं। कबीर की तरह उन्होंने भी पूजा, कर्मकांड का विरोध तो किया किन्तु कटु स्वर में नहीं बल्कि उनके पद अत्यंत प्रबोधात्मक प्रतीत होते हैं।

(3) गुरु नानक–नानक पंथ के प्रवर्तक गुरु नानकदेव समन्वयशील, उदार प्रवृत्ति के एवं इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। उनमें अद्भुत संगठन शक्ति, क्षमाशीलता और दूरदर्शिता विद्यमान थी। उनका जन्म संवत् 1526 कार्तिक की पूर्णिमा के दिन तलवंडी ग्राम, जिला लाहौर में हुआ। कबीर के समान ही उन्होंने शिक्षा ग्रहण नहीं की किन्तु आरंभ से ही आत्मचिंतन द्वारा ईश्वर भक्ति और संत सेवा की ओर उन्मुख रहे। फलस्वरूप समाज और धर्म के सम्बन्ध में उनकी विचारधारा अनुभूति तथा समन्वय पर आधारित थी। धार्मिक रूढ़िवाद और जाति के संकीर्ण बन्धनों तथा अनाचारों के प्रति सदैव उन्होंने आवाज उठाई। उनके द्वारा संस्थापित सिख संप्रदाय ने उन्हीं के जीवन काल में व्यापक संगठन का रूप धारण कर लिया था। भले नानक पंथ या सिख पंथ की स्थापना राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हुई, किन्तु इसका स्वरूप धार्मिक था। सिख सम्प्रदाय का आधार ग्रन्थ "गुरु ग्रन्थ साहिब" है। इस मुख्य ग्रन्थ में सिख संप्रदाय के 10 गुरुओं की वाणी संकलित है–गुरुनानक देव, गुरु आनन्द देव, गुरुरामदास, गुरु अर्जुन देव, गुरु तेगबहादुर एवं दसवें गुरु गुरु गोबिंद सिंह। इनके अतिरिक्त भक्ति काव्य के निर्गुण शाखा के अन्य भक्त कवि–कबीर, रविदास, नामदेव, ज्ञानेश्वर, रामानंद आदि प्रमुख संतों की वाणी भी संकलित है।

निर्गुण ब्रह्म के प्रति भक्ति का भाव उनके काव्य का मुख्य आधार है। नानक की सबसे बड़ी विशेषता थी कि उन्होंने कई स्थानों का भ्रमण किया जिससे उनके पंथ के विस्तार में सहायता मिली। भक्ति के भाव से पूर्ण होकर वे भजन गाया करते थे। सत्य के प्रति आस्था के फलस्वरूप उनकी वाणी में स्पष्टता और उद्बोधन प्रखरता मिलती है। उनके ग्रंथों की चर्चा करें तो 'रहिरास', 'सोहिला', 'जपुजी', 'आसां दि वार', 'नसीहतनामा' नामक ग्रन्थ मिलते हैं। 'महला' नाम से 'गुरुग्रंथ साहिब' में उनके पदों का संकलन है। "जपुजी" में नानक दर्शन का सारतत्व है। उनके काव्य में भाषा के तीन रूप मिलते हैं। अधिकाशतः हिंदी-फारसी बहुल पंजाबी, इसके अतिरिक्त ब्रज शब्दावली का प्रयोग भी उनकी काव्य में दिखाई पड़ता है। कबीर की भाँति उनकी भाषा जनमानस की भाषा थी जिसमें काव्यशास्त्र से अधिक सहजता का भाव था। शांत रस की निर्बाध धारा उनके काव्य में प्रवाहित हुई है।

(4) दादू दयाल–दादू पन्थ के प्रवर्तक संत दादूदयाल धर्म सुधारक, समाज-सुधारक, निर्गुण भक्त कवि हैं। निर्गुण भक्त कवियों में दादू ऐसे कवि हुए जो जीवन पर्यन्त सामाजिक जागरण के लिए समर्पित रहे। इस कारण उनके शिष्य भी अधिक रहे, जिन्होंने उनके साथ रहकर और उनके बाद दादूपंथ का प्रचार पूरे उत्तर भारत में किया। आज भी उत्तर भारत में यह पंथ लोकप्रिय बना हुआ है।

अन्य निर्गुण संतों की ही भाँति दादू के जीवन के बारे में साहित्यकार एक मत नहीं हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने साहित्य में उन्हें कबीर का अनुयायी मानते हैं और उनके जन्म के संबंध में लिखते हैं कि "दादूपंथी लोग इनका जन्म संवत् 1601 में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में मानते हैं। इनकी जाति के सम्बन्ध में भी मतभेद है। कुछ लोग इन्हें गुजराती ब्राह्मण मानते हैं और कुछ लोग इन्हें मोची या धुनिया मानते हैं।" दादू के गुरु कौन थे, इसपर भी मतभेद है। पर कबीर की बानियों का इनपर बहुत प्रभाव दिखाई पड़ता है। उन्हीं की तरह दादू ने भी निर्गुण ब्रह्म की उपासना की और दादू पंथ चलाया।

दादू कबीर की भाँति ही संत परम्परा के कवि रहे, किन्तु उन्होंने कभी कबीर की तरह समाज के धर्मगुरुओं को फटकारा नहीं बल्कि वे मानते हैं कि संत वह व्यक्ति है जिसे गुरु मिला है और गुरु ही वह व्यक्ति है जो परम ब्रह्म का ज्ञान करवाता है। दादू की कविता सहज है जिसमें किसी को फटकार नहीं बल्कि विवादहीन सहजता है। उनकी इसी शैली की वजह से यह पंथ बहुत लोकप्रिय हुआ। उनके कई शिष्य हुए जिन्होंने उनके पदों का संकलन किया। उनके शिष्यों में सबसे प्रमुख रज्जब और सुन्दरदास हुए। उनके शिष्य संतदास और जगन्नाथदास ने "हरडे वाणी" शीर्षक से उनके पदों का संकलन किया। आगे चलकर परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित "दादूदयाल" में इनके पदों का संकलन है। इसके अतिरिक्त उनके शिष्य रज्जब ने "अंगवधू" नामक ग्रन्थ में इनकी वाणी को संकलित किया। उनकी भाषा ब्रज है जिसमें राजस्थानी बोली के शब्दों की बहुलता मिलती है।

◆◆◆

5. सूफी काव्य के प्रमुख कवियों एवं उनके साहित्य का परिचय दीजिए।

उत्तर–सूफी काव्य के प्रमुख कवि–

(1) मुल्ला दाऊद–अनेक विवादों और मतभेदों के उपरांत मुल्ला दाऊद को हिंदी का पहला सूफी कवि माना जा सकता है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ "चंदायन" है जिसका रचना काल 1379 माना जाता है। इसकी भाषा अवधी है। इसके पाठ पर आलोचकों के कई मत है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इस ग्रन्थ का मूल नाम "लोर कहा" या "लोर कथा" माना है किन्तु वे इसकी

प्रसिद्धि "चंदायन" के रूप में ही मानते हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इसमें भारतीय प्रेमाख्यानों की विभिन्न प्रवृत्तियों की व्यंजना है नायक लोर और नायिका चंदा का प्रणय प्रथम दर्शन में ही प्रेम के चरम बिंदु पर पहुँचता है। विभिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रेम में बाधा डालना, नायक का जोगी होकर घर से निकलना, नायिका का नाग द्वारा डसा जाना आदि, कथानक का हर बिंदु भारतीय प्रेम कथा जैसा प्रतीत होता है। भाषा अवधी और शैली भावानुकूल प्रतीत होती है।

(2) कुतुबन–आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कुतुबन का समय संवत् सोलहवीं शताब्दी के मध्य माना है। कुतुबन कृत 'मृगावती' को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी का पहला सूफी काव्य माना है। 'मृगावती' में नायक राजकुमार और नायिका मृगावती का वर्णन है। प्रथम दर्शन में ही प्रेम का निरूपण अत्यंत भावनात्मक शैली में हुआ है। मृगावती की प्राप्ति के लिए नायक योगी के रूप में घर से निकल जाता है और मार्ग में अनेक व्यधानों से जूझकर अंत में मृगावती को पाने में सफल हो जाता है। कथा परिणति अपभ्रंश के जैन काव्य की परम्परा के अनुसार होती है। नायक की मृत्यु के उपरांत सती होने की परम्परा को इसमें दर्शाया गया है। इस काव्य की भाषा अवधी है तथा दोहा, चौपाई छन्द का प्रयोग काव्य को सरस और सरल बनाता है।

(3) मंझन–मंझन कृत 'मधुमालती' का रचनाकाल आचार्य शुक्ल के अनुसार संवत् 1550 और 1595 के बीच माना गया है। इस ग्रन्थ में नायक-नायिका के प्रथम दर्शनजन्य प्रेम के साथ-साथ जन्म के प्रणय संस्कारों की भी महत्ता दिखाई देती है। नायक के प्रेम की गंभीरता से इस बात का परिचय मिलता है कि एक ओर मधुमालती की प्राप्ति के लिए वह भाँति-भाँति के कष्टों को सहन करता है वहीं दूसरी ओर महासुंदरी प्रेमा के प्रणय को ठुकरा देती है। हालाँकि भारतीय प्रेम ग्रंथों में बहुपत्नी प्रथा को दर्शाया गया है किन्तु प्रेमाख्यान काव्य इसका अपवाद है। प्रेमाख्यान काव्य में नायक कष्टों को झेलता है, नायिका मिलन को तड़पता है। स्पष्ट है कि प्रेमाख्यान काव्य में कवि का लक्ष्य प्रेम के उच्च एवं उद्दात्त स्वरूप की व्यंजना करना रहा है जिसमें वह सफल भी हुआ है। इस ग्रन्थ की भाषा अवधी है तथा दोहा चौपाई का प्रयोग कर कवि ने इसे हृदयगामी बनाया है।

(4) मलिक मुहम्मद जायसी–मलिक मुहम्मद जायसी भक्तिकाल के सूफ़ी काव्यधारा (प्रेम मार्गी) के कवि हैं। हिंदी प्रेमाख्यानक के सर्वश्रेष्ठ कवि जायसी का जन्म सन 1492 तथा मृत्यु सन 1542 में मानी जाती है। उनके द्वारा रचित ग्रंथों को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद देखने को मिलते हैं, परंतु 'पद्मावत', 'अखरावट' तथा 'आखिरी कलाम' की रचना को लेकर विद्वानों में मत साम्य है। इतिहास ग्रंथों में जायसी के नाम से निम्नलिखित काव्य-ग्रंथों की सूची उपलब्ध होती है–(i) पद्मावत (ii) अखरावट (iii) आखिरी कलाम (iv) सखरावत (v) चंपावत (vi) इतरावत (vii) मटकावत (viii) चित्रावत (ix) नैनावत (x) पोस्ती नामा (xi) खुर्बानामा (xii) मोराईनामा (xiii) मुकहरानामा (xiv) मुहरानामा (xv) कहारनामा (xvi) मेखरावटनामा (xvii) धनावत (xviii) सोरठ (xix) परमार्थ जपजी (xx) स्फुट छंद।

'पद्मावत' के रचना वर्ष को लेकर विद्वानों में मतभेद देखने को मिलते हैं। सर्वमान्य मतों के अनुमार इस ग्रंथ का रचनाकाल 927 हिजरी यानी 1520 ई. है। यह अवधी में रचित एक प्रबंध काव्य है जिसमें 57 खंड हैं। प्रेम पर आधारित होने के कारण इस काव्य-ग्रन्थ का प्रधान रस श्रृंगार है। श्रृंगार के दोनों पक्षों संयोग और वियोग का मार्मिक चित्रण हुआ है। इस ग्रंथ में नागमती का विरह वर्णन अद्भुत है। रामचंद्र शुक्ल ने इस संदर्भ में लिखा कि "नागमती का विरह-वर्णन हिंदी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है।" मसनवी शैली का प्रभाव होने पर भी यहाँ जायसी की मौलिकता सुरक्षित है। पद्मावत की कथा राजा रतनसेन, पद्मावती तथा नागमती के प्रेम की कहानी कहती है। पद्मावत की कथा के दो भाग हैं, प्रथम भाग कल्पित है तथा द्वितीय भाग ऐतिहासिक। प्रथम भाग में रत्नसेन के सिंहल जाने पर पद्मावती का वरण करने के पश्चात् चित्तौड़ आगमन की कहानी का वर्णन है तथा द्वितीय भाग में राघव चेतन, उसके षड्यंत्रों, अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण तथा पद्मावती के सती होने की कथा है। 'पद्मावत' के संदर्भ में सदानंद शाही लिखते हैं कि "पद्मावत में जायसी भी एक बड़े स्वप्न, एक बड़े प्रति संसार की रचना करते हैं। स्वप्न और यथार्थ, कल्पना और इतिहास, एक दूसरे से जूझते हुए दिखाई पड़ते हैं। जायसी द्वारा सृजित स्वप्न लोक में आदि से अंत तक सौन्दर्य और प्रेम की रसधारा प्रवाहित हो रही है जबकि यथार्थ लोक में शक्ति और सत्ता का वर्चस्व। पद्मावत के बड़े कैनवास पर जायसी ने मनुष्य की इन दो विरोधी वृत्तियों का द्वंद्व दिखाया है। इस द्वंद्व का अवसान एक बड़े अवसाद की सृष्टि करता है। राजसत्ता का मद, विजय का दर्प, कूटनीति की कुटिलता, वैभव, शौर्य और पराक्रम, सब सारहीन हैं। इनसे राज्य तो जीते जा सकते हैं, किन्तु प्रेम नहीं।"

'पद्मावत' की अंतिम पंक्तियाँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, कारण कि यह संसार की नश्वरता को वाणी देती हैं। जीवन की आपा-धापी, झूठ, कुटिलता, सबकुछ व्यर्थ है और सच यह है कि-

'छार उठाई लीन्हि एक मुँठी, दिन्हि उड़ार पिरिथमी झूठी'

'पद्मावत' के अतिरिक्त 'अखरावट' भी जायसी का एक महत्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ है। इस काव्य ग्रंथ में **54 दोहे**, **54 सोरठे**, और 371 चौपाइयाँ हैं। यह एक सिद्धांत काव्य है जिसमें देवनागरी वर्णमाला से संबंधित चौपाईयाँ और **सूफी दर्शन की प्रस्तुति** मिलती है। 'आखिरी कलाम' की रचना 936 हिजरी में हुई थी। यह एक मसनवी काव्य है तथा इसमें 60 दोहे और **420 चौपाईयाँ** हैं। 'आखिरी कलाम' में सृष्टि के अंतिम दिन यानी कयामत के दिन का वर्णन है। हजरत मोहम्मद के महत्त्व का वर्णन भी यहाँ देखने को मिलता है। कुल मिलकर देखें तो जायसी प्रेम के कवि हैं; वे स्वयं इस तथ्य को स्वीकार भी करते हैं–

"मुहम्मद कवि जो प्रेम का ना तन रकत न मांसु।
जेइं मुख देखा तेइं हँसा सुना तो आये आंसु।।"

जायसी ने यह स्वीकार किया है कि प्रेम करना सामान्य बात नहीं होती, इसकी डगर बहुत कठिन होती है। प्रेम आग का दरिया है और उसमें डूब कर पार करना होता है। जायसी ने लिखा कि **"प्रेम पहार कठिन विधि गढ़ा। सो पै चढ़े सीस सौं चढ़ा।"** परमात्मा ने प्रेम के पर्वत को अति दुर्गम बनाया है, और इसको सुगम वही बना सकता है जो प्रेम में कुछ भी कर गुजरने की हिम्मत रखता हो।

◆◆◆

(ग) सगुण धारा (रामभक्ति शाखा, कृष्णभक्ति शाखा)

6. सगुण भक्ति धारा की रामभक्ति शाखा का परिचय देते हुए उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

रामभक्ति काव्यधारा की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

उत्तर–रामभक्ति काव्यधारा–अर्थ, परम्परा और प्रवृत्तियाँ/विशेषताएँ– राम एवं उनके जीवन को आधार बनाकर जो काव्य रचा गया उसे रामभक्ति काव्य और इस परंपरा को रामभक्ति काव्य परंपरा की संज्ञा दी गई है। सिर्फ भारत में ही नहीं बल्कि पूरे विश्व साहित्य में राम काव्यधारा की एक सुदीर्घ एवं सतत परंपरा देखने को मिलती है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो भारतीय वांग्मय में राम सर्वप्रथम ऋग्वेद में एक प्रतापी यज्ञकर्ता के रूप में दिखाई देते हैं। चौथी शताब्दी में कालिदास के यहाँ राम एक ऐतिहासिक पुरुष हैं। वाल्मीकि के यहाँ राम के चरित्र की बुनियादी विशेषताओं का निर्धारण होता है। मतलब, हिंदी साहित्य से पूर्व संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य में पर्याप्त मात्रा में रामकाव्य की रचना हो चुकी थी। 'रामचरितमानस' में तुलसीदास ने ऐसी अनेक पंक्तियाँ (जैसे–'रामायन सतकोटि अपारा', 'नानापुराण निगमागमसम्मत', 'रामकथा के मिति जग नाहीं') लिखी हैं जिससे साफ़ जाहिर होता है कि राम की कथा परंपरा और संस्कृति में कब से विद्यमान है, इसका ठीक-ठीक अनुमान लगा लेना बहुत ही दुष्कर कार्य है। संस्कृत के साथ-साथ प्राचीन बौद्ध एवं जैन साहित्य के भी अनेक ग्रंथों में रामकथा के सूत्र बिखरे पड़े हैं। पद्म पुराण, श्रीमद्भागवत पुराण, विष्णु पुराण, अग्निपुराण जैसी पुराणपरक रचनाओं के अलावा कालिदास के रघुवंशम्, कुमारदास रचित **जानकी हरण**, भवभूति कृत **उत्तर रामचरित**, राजशेखर प्रणीत **बाल रामायण** (सभी संस्कृत भाषा की रचनाएँ), विमल सूरी कृत **पउमचरियम** (प्राकृत), स्वयंभू लिखित **पउमचरिउ** (अपभ्रंश) जैसी अनेक उल्लेखनीय रचनाओं में राम कथा का वर्णन मिलता है। यह एकदम सही है कि लोक में प्रचलित और धर्म में समादृत राम और उनके जीवन से जुड़ी हुई कथाओं का सही-सही अंदाज नहीं लगाया जा सकता है, लेकिन उपलब्ध रचनाओं के आधार पर कहें तो रामकथा का प्राचीनतम स्रोत वाल्मीकि रचित 'रामायण' है। माना जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना ई. पू. 600- ई. पू 400 के बीच हुई थी। देखें तो वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति से लेकर स्वयंभू होते हुए भक्तिकाल के कवियों सहित आधुनिक काल तक रामकाव्य की एक समृद्ध परंपरा हमारे सामने है। लेकिन यहाँ जिस रामभक्ति काव्यधारा की विशेषताओं के बारे में हम बात कर रहे हैं उसका सम्बन्ध हिंदी साहित्य में मध्ययुगीन रामभक्ति काव्यधारा के रूप में विकसित आन्दोलन से है जिसने "विदेशी शक्तियों से आक्रांत, सामाजिक दृष्टि से वैमनस्य-पीड़ित, धार्मिक धरातल पर सिद्धों एवं तांत्रिकों के विविध मत-मतांतरों से ग्रस्त नैराश्ययुक्त हिन्दू जनता को राम के असुर-संहारक, शरणागत-प्रतिपालक, अलौकिक रूप ने मधुमय संबल प्रदान किया।" इस काव्यधारा के अग्रगण्य कवियों में तुलसीदास, अग्रदास, ईश्वरदास, नाभादास, केशवदास, प्राणचंद चौहान और हृदयराम प्रमुख हैं लेकिन भक्त शिरोमणि तुलसीदास

और उनका 'रामचरितमानस' सर्वमहत्त्वपूर्ण है। ग्रियर्सन ने तो यहाँ तक कह दिया कि बुद्ध के बाद भारत में सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास थे। (हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 98) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उत्तर भारत में रामभक्ति काव्य परंपरा का आरम्भ रामानंद से स्वीकार किया है। उनके अनुसार रामानंद का समय 1450 से 1550 ईस्वी के बीच है।

यह सही है कि राम को आधार बनाकर भक्ति की पवित्र मंदाकिनी प्रवाहित करने वाली काव्यधारा को रामभक्ति काव्यधारा की संज्ञा दी जाती है। लेकिन राम के शील, शक्ति और सौंदर्य से समन्वित जो रामकाव्य परंपरा भारतीय लोकमानस में गहरे रूप में अंतर्व्याप्त है उसका वैशिष्ट्य मूलतः तुलसी के कृतित्व पर टिका हुआ है। ईश्वर और मनुष्य के संबंध को नए रूप में परिभाषित करते हुए उन्होंने राम के चरित्र को धर्म, अनुभव और मूल्य चेतना से जोड़कर भक्ति का सगुण-पथ निर्मित किया। उनके साहित्य में अवतारवादी उपासना एवं समन्वयवादी दृष्टिकोण दोनों विद्यमान हैं। उनके बाद के रामभक्त कवियों पर उनकी गहरी छाप दिखाई देती है। 'लोकवादी तुलसी' में विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं— "तुलसी के यहाँ राम में मनुजत्व और ब्रह्मत्व की महस्थिति सर्वत्र बनी है। रामचरितमानस इस सहस्थिति को समझने की शंका के निवारणार्थ रचा गया है। राम ब्रह्म हैं, सर्वशक्तिमान हैं, किन्तु मानवी लीला कर रहे हैं।... तुलसी के राम में जो दीनबंधुता, शील और संकोच है वह भक्ति के आलंबन राम में ही संभव था। सामान्य लोकजीवन के जितने निकट तुलसी के राम हैं, वाल्मीकि और भवभूति के नहीं। ...तुलसी के यहाँ राम का परम ब्रह्मत्व उनके सारे आग्रहों के बावजूद सगुण भक्ति भावना के कारण ढ़क गया है।"(पृष्ठ 19) कुल मिलाकर देखें तो राम काव्य लोकमंगल एवं लोकधर्म की साधना व आस्था का काव्य है। इसमें राम के शील, शक्ति और सौंदर्य से समन्वित लोक रक्षक रूप को एक ओर सामाजिक मर्यादा का प्रबल पक्षधर माना गया है तो दूसरी ओर उनके लोकरंजक व्यक्तित्व को उद्घाटित करने के लिए श्रृंगार चेतना का भी कलात्मक उपयोग किया गया है। इसलिए राम काव्यधारा की प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित विशेषताओं के आधार पर विश्लेषित किया जा सकता है–

रामभक्ति धारा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ/विशेषताएँ

↓

1. राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की स्थापना
2. लोकमंगल की साधना
3. समन्वयात्मक जीवन दृष्टि
4. दास्य भक्ति की प्रधानता
5. ब्रह्म की उभयात्मक अवधारणा
6. गहन राजनीतिक बोध
7. वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन
8. नारी के प्रति दृष्टिकोण
9. युग-जीवन का यथार्थ चित्रण
10. काव्य संगठन

(1) राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की स्थापना–मर्यादा मानवीय सामाजिकता की रीढ़ होती है। रामभक्तिकाव्य में राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की स्थापना उनके मानवीय आचरण, दायित्व निर्वाह एवं जीवन के ठोस प्रसंगों में क्रियाशील संघर्षों से हुई है। यह मर्यादा पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी स्तरों पर दिखाई देती है। शील, सौंदर्य और मर्यादा का अधिष्ठाता होते हुए भी यह राम हमारे दैनिक जीवन के अनुभवों से उजागर हुआ है। वह केवल अनादि, अनंत और व्यापक सच्चिदानंद मात्र नहीं बल्कि नानापुराण निगमागम सम्मत भी है। तुलसीदास ने 'मानस' की रचना करके विविध मर्यादाओं को प्रामाणिकता प्रदान की है। राम का राज्य ऐसा राज्य है जहाँ 'सुलभ पदारथ चारि,' 'राम राज विषमता खोई' और 'नहिं दरिद कोहू दुखी न दीना' जैसी स्थिति है। मानवीय बोध एवं पीड़ा राम के इस मर्यादावादी रूप को समाज के लिए अथवा मनुष्य मात्र के लिए मूल्यवान बनाती है।

(2) लोकमंगल की साधना–रामभक्ति काव्यधारा लोकमंगल की साधना को अपना निमित्त मानती है। इसलिए रामभक्ति और कविता का आधार यहाँ लौकिक है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में लिखा है कि-

'कीरति, भनिति भूति भलि सोई,
सुरसरि सम सबकर हित होई।'

लोकमंगल की साधना हेतु ही रामभक्ति काव्यधारा के कवियों ने कर्म संघर्ष का चित्रण किया है। संघर्ष परंपरा में भी विवेक, लोकमंगल और मर्यादा बनाए रखना राम का आदर्श है। यही सहजता और मर्यादा रामकाव्य की विशिष्टता है। तुलसीदास 'परहित' को सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते हैं और 'परपीड़ा' को अधर्म–'परहित सरिस धर्म नहीं भाई। परपीड़ा सम नहीं अधमाई।'

(3) समन्वयात्मक जीवन दृष्टि–भारतीय समाज में नाना भांति की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएं, जातियां, आचार निष्ठा और प्रचलित विचार पद्धतियों पर गहन चिंतन मनन करते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह स्पष्ट किया है कि "भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो।"(हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, पृष्ठ 131) रामकाव्य में समन्वय की विपुल भावना मिलती है। उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही नहीं अपितु भाषा और संस्कृति, गार्हस्थ्य और वैराग्य, भक्ति और ज्ञान, निर्गुण और सगुण, पुराण एवं काव्य, भाव और चिंतन का भी समन्वय है। लोक और शास्त्र का व्यापक ज्ञान होने के कारण राम काव्य भक्ति के पर्याय माने जाने वाले गोस्वामी तुलसीदास का संपूर्ण काव्य समन्वय की विराट चेष्टा में अनुप्राणित है। उदाहरण–

सगुण और निर्गुण का समन्वय–

"अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं हरहिं सब संशय खेदा।"

शैव एवं वैष्णव का समन्वय–

"शिव द्रोही मम दास कहावा।
सो नर मोहि सपनेहुँ नहिं भावा।।"

ज्ञान और भक्ति का समन्वय–

"भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव संभव खेदा।।"

समन्वय को तुलसी ने भाव के स्तर पर ही नहीं वरन शैली के स्तर पर भी संभव किया है।

(4) दास्य भक्ति की प्रधानता–विवेच्य काव्यधारा दास्य भक्ति भावना को अपनाते हुए भक्ति का निषेध करती है। दास्य भाव को चेतना के स्तर पर स्वीकार करने वाली यह भक्ति संपूर्ण आत्मार्पण पर आधारित है जो मनुष्य को भीतर से संपृक्त करती है।

"को जने को जैहै सुरपुर कौन नरक धन धाम को।
तुलसी बहुत भलो लागत जगजीवन राम गुलाम को।।"

इस युग के रचनाकारों ने भक्ति को जीवन की सार्थकता मानते हुए अपने को ईश्वर का सेवक स्वीकार किया है।

(5) ब्रह्म की उभयात्मक अवधारणा–रामभक्ति काव्य में ब्रह्म की उभयात्मक अवधारणा मिलती है। वह मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त, चल-अचल आदि सर्वरूप में विद्यमान है। उसके दोनों रूप सत्य और नित्य हैं। रामचरितमानस में तुलसीदास ने लिखा है कि–

"अगुन अरूप अलख अज जोई,
भगिति प्रेम बस सगुन सो होई।"

(6) गहन राजनीतिक बोध–भक्तिकालीन रामकाव्य की यह अन्यतम विशेषता है कि इसमें तत्कालीन राजनीतिक स्थितियों का मूल्यांकन किया गया है। समकालीन राजनीति की प्रकृति इस काव्य में साफ दिखाई देती है जिसके कारण समाज में अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हुई हैं। कविता एक तरह की नैतिक ढाल है जो पाठक को उसके कर्तव्यों और दायित्वों का सांस्कृतिक राजनीतिक बोध कराती है।

"वेद धर्म द्वरि गए भूमि चोर भूप गए।"

तुलसी ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की माँग करते हैं जिसमें कोई दरिद्र न हो, कोई दुखी न हो और जहां प्रजा रक्षणहीन न हो अर्थात ऐसे राज्य में अन्यायी से जनता की रक्षा की जा सके–

"नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहिं कोई अबुध न रक्षणहीना।।"

(7) वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन–भक्तिकाल की अन्य काव्यधाराएँ जहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध करती हैं, वहीं रामभक्ति काव्यधारा इस व्यवस्था का समर्थन करती है। तुलसी इसे सामाजिक आदर्श के रूप में देखते हैं। तभी तो वे लिखते हैं कि–

"पूजहि विप्र सकल गुनहीना,
सूद्र न पूजहु वेद प्रवीणा।"

(8) नारी के प्रति दृष्टिकोण–नारी के प्रति राम कवियों की दृष्टि अधिक अवसरों पर उदार रही किन्तु कुछ जगहों पर ये कवि अपनी युगीन सीमाओं का अतिक्रमण न कर सके। नारी के प्रति सामंती दृष्टिकोण उस युग का सच था। तुलसीदास अपनी स्त्री उदारता के बावजूद कई जगह पितृसत्तात्मक सोच का समर्थन करते दिखाई देते हैं–

"ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी,
सकल ताड़ना के अधिकारी।

स्त्री की कारुणिक दशा का चित्रण करते हुए तुलसीदास 'रामचरितमानस' में लिखते हैं–

"कत बिधि सृजी नारि जग माहीं।
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।।"

(9) युग-जीवन का यथार्थ चित्रण–हिंदी साहित्य के इतिहास में मध्यकाल राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अस्थिरता का युग था। इसलिए युगजीवन का यथार्थ चित्रण रामकाव्य की वह महत्त्वपूर्ण विशेषता है जिसमें धार्मिक अराजकता, शिक्षा-व्यवस्था, आर्थिक विपन्नता, दैविक आपदाओं आदि का सजीव चित्रण मिलता है। इनका चित्रण तुलसी 'कवितावली' में करते हैं–

समाज की दयनीय स्थिति का चित्रण–

"खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई का करी।"

सामाजिक वैषम्य–

"एक सुखी एक अति दुखी, एक भूप एक रंक।
एकन को विद्या बड़ी, एक पढ़े नही अंक।"

आर्थिक वैषम्य–

"नारि मुई ग्रह सम्पत्ति नासी, मूड़ मुड़ाई होहिं संन्यासी।"

(10) काव्य संगठन–कला-पक्ष के स्तर पर रामकाव्य में अनेक विविधताएं हैं। लोक-भाषाओं की दृष्टि से तुलसी का साहित्य अप्रतिम है। तुलसी के यहाँ प्रचलित अवधी तथा ब्रज दोनों लोक भाषाओं का प्रयोग हुआ है। 'रामचरितमानस' की भाषा अवधी है तो 'कवितावली', 'विनयपत्रिका' आदि रचनाएं ब्रजभाषा में रचित हैं।

"दूलह श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुंदरि, वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं।।
राम को रूप निहारति जानकी कंकण के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूल गई कर टेक रही पल टारति नाहीं।।"

भक्तिकाल (सम्वत् 1375 से सम्वत् 1700)

भक्तिकाल

- **निर्गुण**
  - **संत काव्यधारा** — नामदेव, कबीर, रैदास, दादू, रज्जबदास, मलूकदास, सुन्दरदास आदि।
  - **सूफी काव्यधारा** — मुल्लादाऊद, कुतुबन, मंझन, शेखनबी, उसमान, कासिम शाह, जायसी, नूर मुहम्मद आदि।
- **सगुण**
  - **कृष्ण काव्यधारा** — सूरदास, नन्ददास, कुम्भन दास, परमानन्द दास, चतुर्भुज दास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, स्वामी हरिदास, मीराबाई आदि।
  - **राम काव्यधारा** — अग्रदास, ईश्वरदास तुलसीदास, नाभादास केशवदास, प्राणचन्द चौहान, हृदय राम, माधवदास आदि।

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल का समय संवत् 1375 से संवत् 1700 के मध्य माना गया इस युग का साहित्य धार्मिक होने के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक भी है। भक्तिकालीन निर्गुण काव्यधारा के अन्तर्गत सू प्रेमाख्यानक तथा संत काव्यधारा का उल्लेख किया जा सकता है। निर्गुण संत काव्यधारा में निर्गुण-निराकार ईश्वर की भक्ति स्वीकार किया गया है। कबीरदास इस काव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जा सकते हैं। अन्य कवियों में गुरु नानक देव, नामदे रैदास, रज्जबदास, दादू दयाल आदि का उल्लेख किया जा सकता है। सूफी प्रेमाख्यानक काव्यधारा के कवियों ने निर्गुण-निराका ईश्वर को मानते हुए भी विशुद्ध प्रेम तत्त्व पर अधिक बल दिया। इन्होंने लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम को प्राप्त करने की वकालत की। कुतुबन, मंझन, मुल्ला दाऊद, शेखनबी, उसमान, कासिम, जायसी आदि इस काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं। इनमें मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी साहित्य के एक महान् कवि माने जा सकते हैं। 'पद्मावत' उनकी कीर्ति का आधार-स्तम्भ है। सगुण भक्ति के अन्तर्गत कृष्ण काव्यधारा और राम काव्यधारा की चर्चा की जाती है। कृष्ण काव्यधारा में भगवान कृष्ण की लीलाओं के साथ-साथ माधुर्य भाव की भक्ति पर बल दिया गया है। अष्टछाप के सभी कवि इस काव्यधारा के उल्लेखनीय कवि हैं। सूरदास, नंददास, चतुर्भुज दास, परमानन्द दास, कुम्भन दास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी आदि अष्टछापी कवि हैं। इनका सम्बन्ध स्वामी वल्लभाचार्य द्वारा परिवर्तित पुष्टि मार्ग से है। सूरदास इस काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं। राम काव्यधारा में श्रीराम को मर्यादा पुरुषोत्तम सिद्ध करते हुए उनकी शील, शक्ति और सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास, केशवदास, नाभादास, अग्रदास आदि इस काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं, लेकिन इनमें गोस्वामी तुलसीदास सर्वश्रेष्ठ कवि कहे जा सकते हैं। 'रामचरितमानस' उनका सुप्रसिद्ध काव्य है।

भक्तिकाल को स्वर्ण युग मानने के कारण

भक्तिकाल के सभी भक्त कवियों ने जिस साहित्य की रचना की वह आज भी जनमानस का कण्ठहार कहा जा सकता है। कबीरदास के दोहे अनेक लोगों को याद हैं। जायसी का पद्मावत न केवल सूफी काव्य का, बल्कि हिन्दी साहित्य का महान् काव्य है। इसी प्रकार कृष्ण भक्त कवि सूरदास का 'सूरसागर' एक महान् काव्य रचना है जिसमें कवि ने श्रीकृष्ण की लीलाओं के साथ-साथ माधुर्य भाव की भक्ति, वात्सल्य वर्णन, दास्य भाव की भक्ति आदि का प्रतिपादन किया है। रामकाव्य में गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित रामचरितमानस को 'उत्तर भारत की बाइबिल' कहा गया है। शायद ही ऐसा कोई हिन्दू परिवार हो जिसमें इस ग्रंथ का परायण न किया जाता हो। डॉ. श्यामसुन्दर दास ने भक्तिकाल को स्वर्ण युग स्वीकार करते हुए लिखा है–"जिस **युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे प्रसिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी अनेक अन्तःकरणों से निकलकर देश के कोने-कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्ति युग कहते हैं। निश्चय ही वह हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग था।**" वे पुनः लिखते हैं–"**हिन्दी काव्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाए तो जो बचेगा वह इतना हल्का होगा कि हम उस पर किसी प्रकार गर्व न कर सकेंगे। लगभग 200 वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी**

अपना सिर प्रान्तीय साहित्यों के ऊपर उठाए हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हित हरिवंश, कबीर, इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे पास ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी भारती के कण्ठहार हैं।" आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार–"समूचे भारतीय इतिहास में यह अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है। यह काव्य जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है, वहीं उसमें उच्चकोटि के भी दर्शन होते हैं। इस काव्यधारा की आत्मा भक्ति है, इसका जीवन स्रोत रस है। यह काव्यधारा एक साथ हृदय, मन और आत्मा की भूख को शान्त करती है।" कुछ अन्य आलोचकों ने भी यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ काल है। विशेषकर कबीरदास ने भले ही खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति को अपनाया हो। लेकिन उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों दोनों की जड़ कुरीतियों पर प्रहार किया। वे एक क्रान्तिकारी कवि कहे जा सकते हैं जिन्होंने समाज को निर्मल और स्वच्छ बनाने पर बल दिया। इसी प्रकार कविवर जायसी ने हिन्दुओं और मुसलमानों के अजनबीपन को दूर करने की कोशिश की और दोनों सम्प्रदायों में सामाजिक और धार्मिक सौहार्द उत्पन्न करने का प्रयास किया। इसी प्रकार तुलसीदास ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए विभिन्न धर्मों को जोड़ने का प्रयास किया। यही कारण है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. श्यामसुन्दर दास, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ. नगेन्द्र जैसे आलोचकों ने इसे सर्वश्रेष्ठ काव्य घोषित किया है। निम्नलिखित कारणों से भक्तिकाल को स्वर्णयुग सिद्ध किया जा सकता है–

भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग मानने के कारण

↓

(1) हिन्दी साहित्य का सर्वोत्तम काल

↓

(2) स्वान्तः सुखाय काव्य, न कि स्वामिनः सुखाय काव्य

↓

(3) भारतीय संस्कृति का श्रेष्ठ काव्य

↓

(4) भावपक्ष और कलापक्ष का सुन्दर समन्वय

↓

(5) लोकमंगल का काव्य

↓

(6) श्रेष्ठ समन्वयवादी साहित्य

1. हिन्दी साहित्य का सर्वोत्तम काल–भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का सर्वोत्तम काल है। इस युग में उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ। जिस प्रकार शेक्सपीयर इंग्लैण्ड का महान् कवि माना जाता है उसी प्रकार भारत में सूर, तुलसी, जायसी और कबीर को सर्वाधिक सम्मान दिया जाता है। इन कवियों के द्वारा रचित साहित्य हिन्दी कवियों की अक्षय निधि कही जा सकती है। इस युग में हिन्दी काव्य का चतुर्मुखी विकास हुआ। इस काव्य में जहाँ एक ओर समन्वयवाद और भारतीय संस्कृति पर प्रकाश डाला गया है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक वातावरण पर भी प्रकाश डाला गया है। कलापक्ष की दृष्टि से भी यह सर्वोत्तम काव्य कहा जा सकता है। यह साहित्य काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण, काव्य सौष्ठव, भाव पक्ष, कलापक्ष, लोकमंगल, समृद्ध भाषा आदि सभी दृष्टियों से सर्वोत्तम माना गया है। यह काव्य धर्म की उच्चतम व्याख्या करता है और पाठक में उदात्त भावों को उत्पन्न करता है। इस साहित्य का सम्बन्ध देश की सभ्यता और संस्कृति से है। इसके साथ-साथ इस साहित्य ने सामान्य जन-जीवन के सुख-दुःख, उसके धार्मिक, सामाजिक तथा पारिवारिक पक्षों पर भी समुचित प्रकाश डाला है। इस सन्दर्भ में **डॉ. गंगा प्रसाद पांडेय** ने उचित ही लिखा है–**"यदि भक्तिकाल को ही साहित्य मान लिया जाए तो यह काल हिन्दी साहित्य का तथा सारे विश्व साहित्य का निश्चय से ही स्वर्ण युग है।"** यह साहित्य हमारे मन और हृदय की प्यास को शान्त करता है तथा हमें सुख प्रदान करता है।

2. स्वान्तः सुखाय काव्य, न कि स्वामिनः सुखाय काव्य–पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि आदिकालीन चारण कवि दरबारी कवि थे और वे अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए शृंगार रस प्रधान तथा वीर रस प्रधान काव्य की रचना

कर रहे थे। इसी प्रकार रीतिकाल के कवि दरबारी कवि होने के कारण शृंगार की छीछालेदर कर रहे थे। दोनों युगों का साहित्य स्थायी साहित्य नहीं कहा जा सकता लेकिन भक्तिकालीन का साहित्य शाश्वत साहित्य है। जहाँ पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों ने 'स्वामिनः सुखाय' काव्य रचना की, वहाँ भक्तिकालीन कवियों ने 'स्वान्तः सुखाय' काव्य रचना की। गोस्वामी तुलसीदास लिखते भी हैं–**'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाता।'**

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनका काव्य उनकी हृदयगत भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। चाहे कबीर हो, रैदास या गुरुनानक देव अथवा सूरदास, इन सब कवियों ने अपनी हृदयगत भावनाओं का सहज और सरल वर्णन किया है। भले ही सूफी प्रेमाख्यानक कवियों पर कुछ कवियों ने साम्प्रदायिकता का आरोप लगाया हो परन्तु उन कवियों का सम्पूर्ण वर्णन भी स्वान्तः सुखाय है। इन कवियों ने भारतीय लोक कथाओं को लेकर जो प्रेम काव्य का वर्णन किया है वह बड़ा ही रोचक और हृदयाकर्षक बन पड़ा है। इस संदर्भ में **डॉ. शिवकुमार शर्मा** ने लिखा भी है–**"भक्तिकाल के साहित्य का कविता सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त उदात्त है। उसने अपनी वाणी का उपयोग प्राकृत जन गुणगान के लिए नहीं किया। इनका काव्य आदिकाल और रीतिकाल के कवियों के समान राज्याश्रय में पल्लवित और पुष्पित नहीं हुआ, बल्कि आत्म प्रेरणा का फल है। अतः यह स्वामिनः सुखाय न होकर स्वान्तः सुखाय अर्थात् सर्वान्तः सुखाय सिद्ध हुआ।"**

3. भारतीय संस्कृति का श्रेष्ठ काव्य–भक्तिकालीन साहित्य भारतीय संस्कृति और आचार-विचार का प्रचार-प्रसार करने में सफल हुआ है। भक्तिकाव्य के प्रारम्भ से ही उत्तर भारत मुस्लिम शासकों के अधीन हो चुका था। तत्कालीन मुस्लिम शासक एक ओर तो इस्लाम धर्म का प्रचार कर रहे थे दूसरी ओर हिन्दू धर्म और संस्कृति को नष्ट करने का प्रयास भी कर रहे थे। भले ही आचार्य शुक्ल जैसे विद्वानों ने भक्ति आन्दोलन को पराजित हिन्दू जाति की प्रतिक्रिया का परिणाम कहा हो, परन्तु तत्कालीन सन्त कवियों, सूफी कवियों, कृष्ण कवियों तथा राम कवियों ने एक बार पुनः हिन्दू संस्कृति की रक्षा करने का आन्दोलन चलाया। सच्चाई तो यह है कि उस समय हिन्दू जाति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया था। भक्तिकालीन कवियों ने भारतीय संस्कृति और धर्म की सही अर्थों में व्याख्या की और कुछ कवियों ने तो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की खाई को भी पाटने का प्रयास किया। भक्तिकाल के साहित्य के फलस्वरूप ही आज भारतीय दर्शन, संस्कृति, सभ्यता तथा आचार-विचार सुरक्षित हैं। इस युग की उल्लेखनीय काव्य रचनाओं में रामचरितमानस, पद्मावत, सूरसागर तथा कबीर की वाणी का महत्त्वपूर्ण योगदान कहा जा सकता है। उत्तर भारत में रामचरितमानस का वही स्थान है जो यूरोप में बाइबिल का है। कबीर आदि सन्त कवियों ने न केवल सामाजिक रूढ़ियों और आडम्बरों का उन्मूलन किया, बल्कि भारतीय संस्कृति की खामियों को दूर करने का प्रयास किया। इसके साथ-साथ सूफी प्रेमाख्यानक कवियों ने भारतीय लोक-जीवन और संस्कृति को एक नवीन दिशा प्रदान की। यह कहना अनुचित न होगा कि भक्तिकालीन साहित्य ने भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित किया।

इसके साथ-साथ भक्तिकालीन साहित्य श्रेष्ठ धार्मिक साहित्य भी कहा जा सकता है। इस काल में धार्मिक साहित्य के साथ-साथ लोक-जीवन का भी मणिकांचन प्रयोग किया गया है। रामचरितमानस एक आदर्श मानव समाज की रचना प्रस्तुत करता है। तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित राम राज्य की कल्पना किसी भी युग के लिए अनुकरणीय है। कबीर, दादू, रैदास, गुरु नानक देव आदि भले ही अधिक शिक्षित नहीं थे परन्तु इन सभी कवियों ने निर्गुण ब्रह्म और आत्मा की जो व्याख्या की है वह बेमिसाल है। इसी प्रकार सूरदास आदि अष्टछाप कवियों ने कृष्ण लीलाओं का जो मनोरम चित्र अंकित किया है, वह भक्तों के लिए ग्राह्य है। भक्तिकालीन साहित्य को पढ़कर एक सामान्य पाठक भी मन की शान्ति प्राप्त करता है।

4. भावपक्ष और कलापक्ष का सुन्दर समन्वय–भक्तिकाल के साहित्य में साहित्य के भावपक्ष और कलापक्ष का समन्वय हुआ है। कबीर एक अनपढ़ कवि थे लेकिन उनकी भावना और अनुभूति को देखकर हैरानी होती है। इसके साथ-साथ उनका अभिव्यंजन शिल्प भी प्रशंसनीय है। सूर, तुलसी, जायसी, नन्ददास आदि कवियों के काव्य में भी भावपक्ष और कलापक्ष का सुन्दर समन्वय हुआ है। इन कवियों के काव्य में जहाँ एक ओर सरस अभिव्यक्ति देखी जा सकती है वहीं दूसरी ओर सहज वाग्विदग्धता भी देखी जा सकती है। एक ओर जहाँ कबीर ने जनसाधारण की भाषा का प्रयोग किया, वहीं दूसरी ओर तुलसीदास ने साहित्यिक अवधी तथा ब्रजभाषा का प्रयोग किया। इसी प्रकार सूरदास, नन्ददास आदि अष्टछाप कवियों ने ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया। भाषा, छन्द, अलंकार, काव्य-शैली आदि कला पक्ष के सभी उपकरण उन काव्य रचनाओं में विद्यमान हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि इस युग में प्रबन्ध, मुक्तक, गीति काव्य, सूक्ति काव्य, नीति काव्य, कथा काव्य आदि सभी काव्य रूपों पर काव्य रचनाएँ लिखी गईं। इस दृष्टि से भक्तिकालीन काव्य न केवल शाश्वत काव्य है बल्कि विश्वजनीन काव्य भी है।

5. लोकमंगल का काव्य–यदि सूरदास को छोड़ दें तो भक्तिकाल के सभी कवियों ने अपनी काव्य रचनाओं में लोकमंगल और लोक कल्याण पर अधिक बल दिया है। आचार्य शुक्ल ने इस काल के सभी कवियों को भक्त कवि, समाज सुधारक और लोक नायक कहा है। विशेषकर कबीरदास ने एक समाज सुधारक की भूमिका निभाते हुए समाज की कुरीतियों और जड़ परम्पराओं पर प्रहार किया। गोस्वामी तुलसीदास सच्चे लोकनायक कहे जा सकते हैं। उनका काव्य गंगा के समान पावन है और सबका कल्याण करने में समर्थ है। मलिक मुहम्मद जायसी ने तत्कालीन लोकजीवन, पर्वों, त्योहारों, शादी-विवाह, पारिवारिक जीवन आदि पर बड़ा ही प्रभावशाली प्रकाश डाला है। सूर आदि कवियों ने कृष्ण के लोकरंजक रूप का जो वर्णन किया है वह अद्वितीय बन पड़ा है। इन कवियों ने मृतप्राय भारतवासियों को नया जीवन दिया और उनमें आशा का संचार किया। यदि साहित्य एक ओर परलोक की ओर संकेत करता है तो दूसरी ओर लोक कल्याण पर भी अधिक बल देता है। कबीरदास ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की रूढ़ियों और आडम्बरों का डटकर विरोध किया। यदि कबीर का स्वर खण्डनात्मक था तो जायसी का स्वर मण्डनात्मक था। गोस्वामी तुलसीदास ने तत्कालीन समाज की विषमताओं और समस्याओं पर समुचित प्रकाश डाला। तुलसीदास ने स्वीकार किया कि मुगल दरबार चाटुकारों से भरा हुआ था। शासन व्यवस्था अयोग्य हाथों में चली गई थी। आम जनता, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, बेरोजगारी का शिकार बनी हुई थी। **कवितावली** में कवि लिखता भी है–

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को न बनिज, चाकर को न चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहें एक एकन सौं कहाँ जाई, का करी?"

यही नहीं, तुलसीदास ने तत्कालीन शैवों, शाक्तों, निर्गुणवादियों, सगुणवादियों तथा वैष्णवों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। परोपकार की भावना का समर्थन करते हुए वे लिखते हैं–

'परहित सरिस धर्म नहिं भाई'

6. श्रेष्ठ समन्वयवादी साहित्य–भक्तिकालीन साहित्य केवल धार्मिक साहित्य नहीं है, बल्कि श्रेष्ठ समन्वयवादी साहित्य भी कहा जाता है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि तत्कालीन मुगल शासकों में धार्मिक कट्टरता थी। मुस्लिम धर्म का प्रचार बढ़ता जा रहा था। शासक मन्दिर गिराकर वहाँ मस्जिदें बनवा रहे थे। दूसरी ओर हिन्दू धर्म निर्गुण-सगुण, शैव-शाक्त, शैव-वैष्णव आदि अनेक सम्प्रदायों में बंट गया था। ये सभी सम्प्रदाय अपने विरोधी सम्प्रदाय का विरोध करने में संलग्न थे। रूढ़ियों तथा आडम्बरों के कारण हिन्दू धर्म का अस्तित्व खतरे में था। कबीर, नानक, रैदास आदि सभी कवियों ने निर्गुण-निराकार ईश्वर की भक्ति पर बल देते हुए हिन्दुओं-मुसलमानों को एक-दूसरे के समीप लाने का प्रयास किया। यह कबीर जैसा क्रान्तिकारी कवि ही था जिसने हिन्दुओं और मुसलमानों को फटकारते हुए कहा–

"जे तू बाह्मण-बाह्मणी जाया तो आन बाट है क्यों नहीं आया।
जे तू तुरकन-तुरकनी जाया तो भीतर खतना क्यों न कराया।"

इधर सूफी प्रेमाख्यानक कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के अजनबीपन को दूर करके उनमें एकता स्थापित करने की कोशिश की। विशेषकर गोस्वामी तुलसीदास ने निर्गुण-सगुण, शैव-शाक्त, शैव-वैष्णव, जीवन-जगत, भक्ति, ज्ञान और कर्म में समन्वय स्थापित करने का भरसक प्रयास किया। इस सन्दर्भ में **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी** ने उचित ही लिखा है–**"उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गृहस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पाण्डित्य और अपाण्डित्य का समन्वय है। रामचरितमानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।"**

भक्तिकालीन कवि उदारवादी कवि थे। चाहे सन्त काव्य हो, सूफी काव्य, रामकाव्य अथवा कृष्ण काव्य, इन सभी ने सामाजिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, कुरीतियों तथा आडम्बरों का खण्डन किया। इन सभी कवियों ने उदारवादी दृष्टिकोण अपनाकर काव्य रचना की। भले ही इनका साहित्य आध्यात्मिक साहित्य है परन्तु इन कवियों ने लोक-जीवन की कहीं पर भी अवहेलना नहीं की।

निष्कर्ष–उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकालीन साहित्य अपनी अनेकों उपलब्धियों के कारण अन्य कालों की अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ है। अतः यह कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि भक्तिकालीन साहित्य हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग है। इस सन्दर्भ में **डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी** ने लिखा भी है–**"समूचे भारतीय इतिहास में यह अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है। यह काव्य जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है, वहाँ उसमें उच्च**

3

हिन्दी साहित्य : रीतिकाल (उत्तर मध्यकाल)

(क) युगीन पृष्ठभूमि (राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक परिवेश; साहित्य एवं संगीत आदि कलाओं की स्थिति)

1. रीतिकाल के परिवेश का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

अथवा

रीतिकालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिवेश पर प्रकाश डालिए।

अथवा

रीतिकालीन परिस्थितियों की विवेचना कीजिए।

अथवा

रीतिकाल में साहित्य एवं संगीत आदि कलाओं की स्थिति पर विचार कीजिए।

उत्तर–रीतिकालीन परिवेश–परिवेश का अभिप्राय होता है–वातावरण। साहित्यिक संदर्भ में वातावरण के अंतर्गत किसी काल विशेष की ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है, क्योंकि इनका काल विशेष के साहित्य पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। हिन्दी साहित्य का रीतिकाल एक ऐसा काल है, जिसके नामकरण के विषय में प्रायः विद्वानों में मतभेद रहा है, परंतु अधिकांश विद्वान इसकी समय-सीमा के विषय में प्रायः एकमत हैं। साहित्येतिहास में किसी काल का विभाजन कोई रेखा खींचकर स्पष्ट रूप से नहीं किया जा सकता कि इस समय के बाद की रचनाएँ अमुक काल से संबंधित हैं तथा इस समय से पूर्व की रचनाएँ अमूक काल में आएँगी। इसका कारण यह है कि साहित्य में प्रवृत्तियाँ एक दिन या एक वर्ष में ही नहीं बदल जातीं, बल्कि इसके लिए पन्द्रह से बीस वर्ष तक का भी समय लग जाता है। अतः रीतिकाल के परिवेश पर विचार करने से पहले रीतिकाल की काल-सीमा को जान लेना भी आवश्यक है। अनेक विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार रीतिकाल की सीमा का निर्धारण किया है। यथा–जार्ज ग्रियर्सन ने 1580 ई. से 1920 ई. तक रीतिकाल का निर्धारण किया है। मिश्र बन्धुओं ने संवत् 1681 से 1790 तक, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, डॉ. रामकुमार वर्मा, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने संवत् 1700 से 1900 तक, हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सन् 1650 से 1850 तक रीतिकाल को स्वीकार किया है। चूँकि डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा समेत अन्य विद्वानों ने संवत् 1700 से 1900 तक की काल-सीमा को ही 'रीतिकाल' कहा है, अतः यहाँ पर भी इसी काल-सीमा के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि परिवेश का विवेचन किया जा रहा है।

रीतिकालीन परिस्थितियाँ परिचय

↓

1. राजनीतिक परिस्थिति

↓

2. सामाजिक आर्थिक परिस्थिति

↓

3. धार्मिक परिस्थिति

↓

4. सांस्कृतिक परिस्थिति

↓

5. साहित्यिक परिस्थिति

1. राजनीतिक परिस्थिति- राजनीतिक दृष्टि से रीतिकाल मुगल शासन के चरम उत्कर्ष और उसकी क्रमशः पतनशील होने की गाथा है। जहाँगीर के बाद मुगल साम्राज्य के सिंहासन पर शाहजहाँ आसीन हुआ। अपने शासनकाल में जहाँगीर ने मुगल शासन का जो विस्तार किया था उसे शाहजहाँ ने चरम उत्कर्ष तक पहुँचा दिया। लेकिन शाहजहाँ के समय से ही मुगल साम्राज्य अपने उत्कर्ष के बिंदु से नीचे गिरने लगा था। इस संबंध में डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है- **"जिस प्रकार साहित्य के इतिहास में भक्ति- काव्य के चरम वैभव के बाद संवत् 1700 के आस-पास से ही कविता श्रृंगारग्रस्त होने लगी थी, ठीक उसी प्रकार राजनैतिक इतिहास में मुगल साम्राज्य भी अपने संपूर्ण यौवन को प्राप्त करने के उपरांत ह्रासोन्मुख हो चला था।"** सन् 1658 में शाहजहाँ के बीमार पड़ने और उसकी मृत्यु की अफवाह फैलने के कारण उसके जीवन काल में ही उसके पुत्रों के बीच सत्ता के लिए संघर्ष शुरू हो गया। सत्ता के लिए यह संघर्ष ही रीतिकाल के आरंभ की सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना है। शाहजहाँ के बड़े पुत्र दाराशिकोह की हत्या कर औरंगजेब ने जबरन सत्ता हथिया ली। लेकिन औरंगजेब ने ज्यों ही सत्ता की बागडोर संभाली, चारों ओर उपद्रव होने शुरू हो गए। औरंगजेब की धर्मान्धता, पक्षपातपूर्ण नीति, साम्राज्य विस्तार लिप्सा ने देश की शान्ति को भंग कर कई तरह के विद्रोहों और निरंतर चलने वाले युद्धों को जन्म दे दिया था। सिक्खों, मराठों, जाटों आदि ने उसके प्रति विद्रोह शुरू कर दिया। औरंगजेब के पश्चात् 1707 ई. में देश की केंद्रीय सत्ता मुगल साम्राज्य का प्रभाव धीरे-धीरे कम होने लगा। चारों ओर छोटे-छोटे जागीरदार अपने को स्वतंत्र करने लगे। जगह-जगह सामंत अपनी शक्ति को बढ़ाने लगे। साथ ही वे मुगल दरबार की वैभवपूर्ण जीवन-पद्धति का भी अनुकरण करने लगे। इस प्रकार सत्ता के विकेंद्रीकरण के साथ उन जीवन दृष्टियों का भी विकेंद्रीकरण हुआ, जिस जीवन दृष्टि को सामंतवाद ने अपना लिया था। केंद्रीय शासन व्यवस्था के शिथिल होने और आंतरिक प्रदेशों की कलह की परिस्थितियों में नादिरशाह, अहमदशाह अब्दाली जैसे विदेशियों के आक्रमण भी शुरू हो गए और बाद में वास्तविक सत्ता अंग्रेजों के हाथ में चली गई। राजनीतिक अस्थिरता की इस परिस्थिति ने देश में विकृत सामंतवाद को जन्म दिया।

2. सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति- रीतिकालीन राजनैतिक अधःपतन ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को पतनशील बनाया। इस काल में समाज में सामंतवाद का काफी प्रभाव था जिसका प्रभाव जनसामान्य के जीवन पर भी किसी-न-किसी रूप में पड़ रहा था। 17वीं सदी तक आते-आते भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था और भी मजबूत हो गई। अब वह पुरानी वर्ण-व्यवस्था को न अपनाकर पेशेवर जातियों के रूप में विकसित होने लगी जो कि वंशानुक्रम से चलती थी। इस समय आर्थिक दृष्टि से समाज दो वर्गों में स्पष्ट रूप से बँटा था- उत्पादक वर्ग और उपभोक्ता वर्ग। उत्पादक वर्ग के अंतर्गत श्रमजीवी, कृषक, व्यापारी, सेठ, साहूकार थे तथा उपभोक्ता वर्ग के अंतर्गत राजा से लेकर राजदरबार के भीतर सभी सदस्य शामिल थे। किंतु इन दोनों में एक शासित था दूसरा शासक, एक शोषित था दूसरा शोषक। लेकिन समाज में उत्पादक और उपभोक्ता वर्ग के बीच की खाई काफी ज्यादा थी। शासन-तंत्र की निरंकुशता ने इनके बीच की खाई बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। हजारी प्रसाद द्विवेदी अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास' में रीतिकालीन इस सामाजिक व्यवस्था पर विस्तार से लिखते हैं- "इस समय आर्थिक दृष्टि से समाज में स्पष्ट रूप से दो श्रेणियाँ हो गई। एक उत्पादक वर्ग, जिसमें प्रधान रूप से किसान थे और किसान संबंध रखने वाली जातियाँ बढ़ई, लोहार, कहार, जुलाहा इत्यादि थीं, और दूसरा दल भोक्ता (राजा, रईस, नवाब आदि) या भोक्तृत्व का मददगार

था। मुगल शासन के अंतिम दिनों में भारतीय समाज के ये ही दो आर्थिक वर्ग थे—राजा, सामंत, मनसबदार आदि भोक्ता वर्ग और कृषकों और श्रमिकों का उत्पादक वर्ग। दोनों का परस्पर संबंध क्रमशः क्षीण होता गया, और मुगल काल के अंतिम दिनों में इन दोनों की दुनिया लगभग अलग हो गई।"

रीतिकालीन समाज में उत्पादक और उपभोक्ता वर्ग के मध्य एक और वर्ग था कवियों और कलाकारों का वर्ग जो प्रायः उत्पादक वर्ग से जन्म लेता था किन्तु भोक्ता वर्ग का मनोरंजन कर अपनी आजीविका चलाता था। कवि-कलाकारों का यह वर्ग अपने आश्रयदाताओं की जीवन-शैली के अनुकूल मनोरंजन करने हेतु तत्कालीन समय में प्रचलित कामशास्त्रीय ग्रंथों व काव्यशास्त्रीय ग्रंथों, विशेषकर नायिका-भेद व अलंकारशास्त्र जैसे ग्रंथों का सहारा लिया करता था। मुगल साम्राज्य के पतन से कवि-कलाकारों के जीवन पर भी प्रभाव पड़ा। ये कवि-कलाकार स्थानीय नवाबों, सामन्तों के यहाँ आश्रय लेने को बाध्य हुए और इनकी मनोवृत्तियों पर ध्यान देना कवि- कलाकारों का एकमात्र लक्ष्य बना। मुगल दरबार अपने वैभव के लिए प्रसिद्ध था। इसकी केंद्रीय सत्ता कमजोर होते ही स्थानीय राजाओं, नवाबों, सामंतों ने इस दरबार के वैभव का अनुकरण करना चाहा। तब वैभव का स्थान वैभव-प्रदर्शन ने ले लिया और इस वैभव-प्रदर्शन ने दरबारी संस्कृति में विलासिता को खासतौर से विकसित किया। दरबारी शिक्षा आशिकाना गज़लों, फारस की अश्लील प्रेम कथाओं, ललित क्रीडाओं, चौसर का खेल तक ही सीमित रह गई। दरबारी जीवन-शैली का असर आम जन पर भी काफी पड़ा। रीतिकालीन कवि पद्माकर की निम्न कविता में रीतिकालीन समाज के विलासपूर्ण जीवन का सटीक चित्र उकेरा गया है-

> **"गुलगुली गिल में गलीचा है, गुनीजन हैं,**
> **चाँदनी है चिक है चिरागन की माला है।**
> **कहें पद्माकर त्यों गजक गिजा है सजी,**
> **सेज है, सुराही है सुरा है और प्याला है।**
> **शिशिर के पाला को व्याप्त कसीला तिन्हैं,**
> **जिनके अधीन एते उदित मशाला है।**
> **तान तुक ताला है, विनोद के रसाला हैं,**
> **सुबाला है, दुशाला है, विशाल चित्रशाला है।"**

दरबारी भोक्ता वर्ग के ठीक विपरीत स्थिति कृषक-श्रमजीवियों जैसे निम्न वर्ग की थी। यह वर्ग सभी ओर से शोषित था, अतः दयनीय जीवन-स्थिति गुजारने को बाध्य था। दरबार का वैभव, सेना, युद्ध, प्रकृति प्रकोप, सेठ-साहूकारों के ऋण आदि अनेक प्रकार के आर्थिक बोझ से वे दबे रहते थे। रीतिकालीन राजनीतिक अस्थिरता ने तत्कालीन सामाजिक जीवन को आक्रान्त कर रखा था। इस परिस्थिति में न किसान की किसानी सुरक्षित थी, न श्रमिक-व्यापारी का कार्य- व्यापार। श्रमिक वर्ग आये दिन बेगार करने को बाध्य होते थे। इन परिस्थितियों ने जनता को हताश बना दिया और वे अंधविश्वासी बन गए। संभवतः इसी कारण इस युग के कुछ कवियों ने इन विषयों (ज्योतिष, शकुन-विचार) से संबंधित कविताओं की रचना की थी। लेकिन रीतिकालीन सामाजिक स्थिति के संबंध में यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि इस युग के काव्य में सामान्य जनता का सामाजिक जीवन प्रायः प्रतिबिंबित नहीं हुआ है। इसका कारण दरबारी संस्कृति के अनुरूप कवियों की काव्य रचना थी। इस अर्थ में रीतिकालीन काव्य लोक-जीवन से कटा हुआ नजर आता है।

3. धार्मिक परिस्थिति–धार्मिक स्थिति की दृष्टि से इस युग को 'पतन का काल' माना जा सकता है। भक्तिकाल में जिन उदात्त धार्मिक मूल्यों का उत्कर्ष हुआ था, कालान्तर में वही भक्ति तत्त्व-बोध से दूर हट कर स्थूल काम-लीलाओं की अभिव्यक्ति का साधन बन गई। हिंदी प्रदेशों में वैष्णव संप्रदायों का संबंध तत्त्व-चिंतन से हटकर विलासिता के साथ संबद्ध हो गया। हिन्दू अपने आराध्य राम-कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं में ही अपने विलासमयी जीवन की संगति ढूँढने में लग गए। श्री संप्रदाय की परंपरा में आने वाले रीतिकालीन सतनामी, लालदासी, नारायणी आदि संप्रदायों के शिष्य विलासमय आराधना में लीन हो गए। रागानुराग भक्ति में तो विलासमयी लीलाओं का पूरा अवकाश था ही, अतः उस प्रकार से वैधी भक्ति के मर्यादा पुरुषोत्तम राम भी नहीं बच सके। इसमें भी कृष्णभक्ति शाखा का तेजी से प्रसार हुआ क्योंकि यह रीतिकालीन प्रवृत्ति के अनुकूल थी। वल्लभ संप्रदाय में विट्ठलनाथ की मृत्यु के बाद अनेक गद्दियाँ देश भर में स्थापित हुईं। इन गद्दियों के गोस्वामी लोभवश राजाओं और सामंतों से संपर्क कायम कर उन्हें दीक्षा देने लगे। सेवा-अर्चना की भक्ति पद्धति के नाम पर वहाँ ऐश्वर्य और विलास की तमाम तरह की लीलाएँ होने लगीं। श्री निम्बार्काचार्य ने कृष्ण भक्ति की जिस मधुर धारा की शुरूआत की उसे अधिकांश रीतिकाल के

भक्त कवियों ने बाह्य विलास की लीलाओं से भर दिया। इसी तरह हितहरिवंश के राधावल्लभ संप्रदाय और चैतन्यमतानुयायी गोस्वामियों की प्रेममूला मधुरा भक्ति काममूला रति के रूप में बदल गई। रीतिकाल के कवि बौद्धिक ह्रास के कारण कृष्णभक्त कवियों की परंपरा का अनुकरण नहीं कर रहे थे वरन् उनकी शृंगार भावना को विलासमयी लीला के रूप में प्रस्तुत कर रहे थे। इसी का परिणाम है कि इस काल में 'सूरसागर' की जगह 'ब्रज विलास' ही लिखा जा सकता था और लक्ष्मणाचार्य की 'चंडी कुच पंचाशिका' में घोर विकृत शृंगार के उदाहरण ही दिए जा सकते थे। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्तों की ऐसी साधना में आंतरिक प्रेम-निवेदन की भावना के साथ ही बाह्य उपकरणों में भी सभी भाव, वेश-भूषा और हाव-भाव के अनुकरण को साधना-पक्ष के ह्रास का द्योतक माना है। भक्तिकाल में मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, चैतन्य तथा वल्लभ जैसे संप्रदायों में राधा भाव से भक्ति की प्रधानता थी लेकिन रीतिकाल में राधा भक्ति की आड़ में परकीया भाव की नायिका के रूप में सिमट कर रह गई। दरअसल रीतिकालीन कवि शृंगार-साधना के मानसिक विलास में ही डूबे रहते थे, राधा एवं कृष्ण महज भक्ति व वैराग्य के बहाना भर थे-

"आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई
न तो राधिका कान्ह सुमिरन को बहानो है।"

दूसरी ओर इस्लाम धर्म पर रीतिकालीन वैभव-विलास का सीधा प्रभाव तो नहीं था किंतु रूढ़ी पालन के कारण यह भी तत्कालीन जीवन को प्रभावित करने में समर्थ न था। इस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम धर्म अपने-अपने मूल तत्व-चिंतन से दूर होकर बाह्याचरण तक ही सिमट कर रह गये थे। ऐसी स्थिति में धर्म के साथ मूल्यहीनता की स्थिति आ जाने से सामान्य जन धर्म के बाहरी विधान में ही जकड़ गए और उनके जीवन में अंधविश्वासों ने घर कर लिया। अंध परंपराओं का पालन अब सामान्य धर्म के रूप में स्वीकृत हो चुका था। हर धर्म के बिचौलिए जनता के अंधविश्वास का आये दिन लाभ उठाते थे। इस रूप में रीतिकाल में धर्म-स्थल व्यभिचार के केंद्र बन गए। इस युग में भी भक्तिकालीन परंपरा के संत और सूफी मौजूद थे किंतु उनमें पूर्ववर्ती संतों-सूफियों जैसी प्रतिभा नहीं थी जो किसी के जीवन को प्रभावित कर सकें। दरअसल रीतिकाल में धर्म मनोविनोद के एक साधन के रूप में तब्दील हो गया था। इस मायने में इस काल की धार्मिक पृष्ठभूमि में जनता के मानसिक परिष्कार की संभावना लगभग खत्म हो गई थी।

4. सांस्कृतिक परिस्थिति–रीतिकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में तत्त्वकालीन दरबारी संस्कृति का गहरा असर देखा जा सकता है। सभी कलाकारों को दरबार में ही प्रश्रय मिल रहा था, चाहे वह दरबार मुगल बादशाह का हो, नवाबों का हो या अन्य राजा-महाराजाओं का। इस युग की कलाओं पर विलासिता का प्रभाव स्पष्ट है, चाहे वह स्थापत्य कला हो, चित्रकला या संगीतकला। शाहजहाँ के शासन में स्थापत्य और चित्रकला में दरबारी परिवेश के अनुरूप अलंकरण की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत ज्यादा नजर आती है। औरंगजेब को कलाओं के प्रति उतना लगाव नहीं था अतः उसके काल में कलाओं का ह्रास हुआ। मुगल दरवार में कलाएँ ईरानी शैली से प्रभावित थी जबकि हिन्दू दरबारों में पोषित कलाओं में भारतीय सांस्कृतिक परंपरा के प्रभाव के साथ तत्कालीन ईरानी शैली का भी असर देखा जा सकता है।

(i) **चित्रकला**–जहाँगीर का समय चित्रकला की दृष्टि से स्वर्णकाल माना जाता है। उसके बाद भी इस कला की समृद्धि में कमी नहीं आई। शाहजहाँ के काल में चित्रकला में अलंकरण की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत ज्यादा नजर आती है। औरंगजेब के बाद परवर्ती शासकों के प्रश्रय में चित्रकला महज अनुकरण मात्र होने के कारण उसमें समय के साथ जड़ता आने लगी। आरंभ में चित्रकला पर दरबार की ईरानी शैली का दबदबा रहा लेकिन बाद में इस पर भारतीय परंपराओं का भी असर देखा जा सकता है। हिन्दू रजवाड़ों, विशेषतः राजस्थान और पर्वतीय क्षेत्रों में चित्रकला की एक भिन्न शैली विकसित हुई जिस पर लोक जीवन का प्रभाव था। राजस्थान तथा पर्वतीय क्षेत्रों में यह क्रमशः राजस्थानी और काँगड़ा चित्र शैली के नाम से प्रसिद्ध है। रागमाला राजस्थानी चित्र शैली का मुख्य विषय था जो ऋतुओं से संबंधित था। इसके अलावा इस शैली के चित्रों का विषय कृष्णलीला, नायिका भेद और बारहमासा भी रहा है। रीतिकाल के कई कवियों की रचनाओं में इसी प्रकार के चित्र अभिव्यक्त हुए हैं। जबकि काँगड़ा-शैली के चित्रों का विषय धर्म, पुराण, इतिहास, लोकगाथा एवं दैनिक जीवन रहा है। इन चित्रों में भावमयता के साथ रहस्यात्मकता का भी पुट है। इस मायने में रीतिकाल में दरबारी वैभव एवं लोकजीवन दोनों के चित्र मिलते हैं।

(ii) **संगीत**–रीतिकाल में संगीत कला का भी काफी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अकबर से लेकर जहाँगीर के शासन काल में संगीत कला ने जिस ऊँचाई को हासिल किया, रीतिकालीन समय में शाहजहाँ के यहाँ संगीत का प्रभाव कुछ कम हो गया। इसका कारण यह था कि शाहजहाँ की रुचि संगीत की अपेक्षा स्थापत्य कला में ज्यादा थी। औरंगजेब

की धार्मिक कट्टरता भी, विशेषकर संगीत से अरुचि ही, संगीत कलाओं के विकास में बाधक बनी। लेकिन 18वीं सदी में मुहम्मदशाह रंगीला के शासन में दिल्ली दरबार में फिर से संगीतकारों को सम्मान मिलने लगा। दरअसल उस समय भारतीय संगीत फारसी प्रभाव से विलासवृत्ति प्रधान हो गया। इस युग में चतुरंग शैली में ख्याल, तराना, सरगम और चिवट (मृदंग के बोल), सबके मिश्रण से संगीत की विचित्रतापूर्ण निर्मिति होती थी। डॉ. श्यामसुंदर दास ने तद्‌युगीन संगीत की प्रकृति को रेखांकित करते हुए लिखा है- "वाजिद अली शाह (अवध के नवाब) के समय की रंगीली ठुमरी अपने-अपने आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति की ही परिचायक नहीं, लोक की प्रौढ़ रूचि में जिस क्रम से पतन हुआ उसका इतिहास भी है।" दरअसल संगीत के क्षेत्र में इस काल में अवध, राजस्थान और ग्वालियर का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। ग्वालियर में शुद्ध शास्त्रीय संगीत का विकास हुआ, साथ ही राजस्थान ने शास्त्रीय संगीत के भीतर स्थानीय लोक प्रभावों में विशिष्टता उत्पन्न कर दी। ग्वालियर के दरबार में संगीत की 'ध्रुपद' जैसी गंभीर शास्त्रीय शैली का विकास हुआ। अन्य कलाओं की भाँति रीतिकाल के संगीत में भी विलास वृत्ति का प्रभाव दिखाई देता है। संगीत में मौलिकता का अभाव होने के कारण यह रसिकता का पर्याय बन गई। इसके बावजूद इस युग में संगीतशास्त्र के कुछ प्रामाणिक ग्रंथों का निर्माण हुआ, इससे इनकार नहीं किया जा सकता है।

5. साहित्यिक परिस्थिति–किसी भी काल के साहित्य पर तत्कालीन समाज और संस्कृति का प्रभाव जरूर पड़ता है। रीतिकालीन कविता भी अन्य कलाओं के समान दरबारी संस्कृति से प्रभावित है। इस काल के साहित्यिक दृष्टि के विकास में भारतीय साहित्य की ऐहिक शृंगारपरक मुक्तकों (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी) की परंपरा का काफी योगदान रहा है। इसमें प्राकृत भाषा में घोर शृंगारिक रचना हाल की 'गाथा सप्तशती' का प्रभाव रीतिकालीन कविता में ज्यादा रहा है। भक्तिकाल का अवसान होने पर भक्ति के आवरण में राधा-कृष्ण के माध्यम से रीति कवि अपने आश्रयदाताओं की विलासपरक रूग्ण मानसिकता की घोर शृंगारिक रचनाओं द्वारा पूर्ति करना तथा उनकी तत्कालीन पेशागत मजबूरी के साथ फैशन भी बन गई। रीतिकालीन इस साहित्यिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं–"हिंदी में शृंगार की काव्यधारा भक्ति से ही फूटी, अतः स्वकीया-प्रेम के लिए उसमें अवकाश न रहा। प्रेम के विस्तार और वैविध्य के लिए परकीया–प्रेम ही अधिक उपयुक्त था, फिर दरबारों में फारसी प्रेम-पद्धति के निरूपण में भी परकीया-प्रेम में आवेग और तीव्रता का प्रदर्शन किया जाता था जिससे हिंदी के कवि भी अछूते न रह सके। भारतीय मर्यादा को ध्यान में रखकर प्रेम के आलंबन कृष्ण और राधा ही रखे गए। घोर वासनापूर्ण रचना करने वालों ने भी भक्ति को शृंगारिकता का आवरण बनाए रखा। इन कृष्ण भक्त कवियों ने अपने भगवत् प्रेम की पुष्टि के लिए जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से जनता को रसोन्मत्त किया, उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखने वाले विषय वासना पूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, इसकी ओर उन्होंने ध्यान न दिया। फलतः रीतिकालीन कविता में राधा-कृष्ण के नाम के साथ उनकी वे सारी लीलाएँ भी आ गईं जो तद्‌युगीन विलासित अभिव्यक्ति में सहायक हुई।"

इस मायने में अपने आश्रयदाताओं के संरक्षण में पलने वाले रीतिकालीन कवियों की कविता विलासपूर्ण, अतिशय अंलकरण-प्रधान, चमत्कार और बाह्य प्रदर्शन की दरबारी-भावना से प्रभावित थी। लेकिन रीतिकाल में कुछ जन कवि ऐसे भी थे जो राजकीय परिवेश से मुक्त होकर सर्जन करने में लीन थे। ऐसे कवियों की कविता मार्मिक और अलंकरण से सर्वथा अछूती रहती थी। इस युग में राजाश्रित और जनकवियों द्वारा रचित साहित्य काफी विशद है जिसका मूल्यांकन अभी भी सम्यक् रूप में नहीं हो सका है।

◆◆◆

2. उत्तर मध्यकालीन काव्य-बोध पर चर्चा करें।

उत्तर–उत्तर मध्यकालीन काव्य-बोध किसी भी कवि या युग काव्य-बोध के निर्माण में परंपरा, तत्कालीन परिस्थितियों और रचना-उद्देश्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। परंपरा के धरातल पर रीतिकाल के कवियों के सामने शृंगारिकता की ओर अग्रसर भक्तिकालीन काव्य धाराएँ थीं, तत्कालीन परिस्थितियों के रूप में विलासिता और वैभव से युक्त सामंतवादी प्रकृति वाली दरबारी संस्कृति थी और रचना-उद्देश्य के धरातल पर आजीविका-निर्वाह की चिंता थी। इस कारण रीतिकालीन कवियों का काव्य-बोध अपने स्वरूप में दरबारी, काव्यशास्त्रीय और शृंगारी है तथा वह कविता मानवीय अनुभूतियों के स्थान पर शिल्प-सौंदर्य को प्रश्रय देती है। इसे थोड़ा विस्तार में हम अग्रलिखित बिन्दुओं के अंतर्गत समझ सकते हैं–

(1) भक्ति का शृंगार में रूपान्तरित काव्य-बोध–रीतिकालीन कवियों को परंपरा के प्रदेय के रूप में शृंगारोन्मुख भक्ति-चेतना मिली थी। वस्तुतः भक्तिकाल के उत्तरार्द्ध में शृंगार तत्त्व की उपस्थिति कविता में बढ़ने लगी थी। भक्तिकाव्य में जिन कवियों के यहाँ भक्ति का माध्यम शृंगार था वहाँ शृंगार आवरण के रूप में उपस्थित था, जिसके भीतर सार-तत्त्व के रूप में भक्ति अवस्थित थी। लेकिन, कालान्तर में यह भक्ति-चेतना लगभग विलुप्त हो गई और शृंगार मात्र शेष रह गया। कविता में शृंगार के धीरे-धीरे बढ़ने के पीछे कृष्ण काव्यधारा की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, चैतन्य महाप्रभु जैसे दार्शनिकों के प्रभाव से शृंगार-प्रधान कृष्ण भक्ति की परंपरा शुरू हुई। यूँ तो आरंभ से ही कृष्णकाव्य धारा में शृंगार की ठोस उपस्थिति थी किन्तु परवर्ती कृष्ण काव्यधारा में तो ईश्वर महज एक आवरण के रूप में रह गया और इस आवरण के पीछे मानवीय प्रेरित वृत्ति, विशेषकर शृंगार के सभी रूप खुलकर व्यक्त होने लगे। रामकाव्य के उत्तरार्द्ध में भी रामचरणदास और प्रयागदास जैसे कवियों ने इस धारा में शृंगार को आरोपित कर डाला। अकारण नहीं है कि डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी सहित अन्य समीक्षकों ने संकेत किया है–"रीतिकाल भक्तिकाल का ही उत्तरकालीन शृंगारमण्डन है।"

उत्तर मध्यकालीन काव्य-बोध को जानने के लिए तद्‌युगीन मनोविज्ञान को भी समझना जरूरी है। मनुष्य लम्बे समय तक एक ही भाव से अपने जीवन में संतुष्ट नहीं होता। फिर भक्ति जैसे अलौकिक आवरण, जो ऐहिक संसार के सहज भाव-बोध से काफी दूर था, से कैसे कोई अपने चित्त को स्थायी रूप से बाँध सकता था। इसलिए उत्तर मध्यकाल में अलौकिकता के कुहासे से निकलकर लौकिक जीवन के उल्लास को खुलकर जीने की इच्छा उस समाज के भीतर बलवती होने लगी। अतः रीतिकाल में शृंगार जैसे सहज लौकिक भाव अव भक्ति के आवरण के बिना व्यक्त होने लगे। यही कारण है रीतिकाल के काव्य-बोध में शृंगार की केंद्रीयता रही है। भिखारीदास तो स्पष्ट रूप में घोषणा करते हैं कि राधा-कृष्ण की भक्ति तो सिर्फ बहाना है मेरा असली उद्देश्य तो भक्ति की आड़ में शृंगारिक मनोवृत्ति से आश्रयदाताओं का मनोरंजन कर यश की प्राप्ति करना है।

(2) दरबारी संस्कृति से निर्मित काव्य-बोध–उत्तर मध्यकालीन अर्थात् रीतिकाल के में दो स्थितियों महत्त्वपूर्ण हैं- (1) रीतिकाल के आरंभ में दरबारी संस्कृति से विकसित काव्य-बोध (ii) दरबारी संस्कृति के प्रतिपक्ष से विकसित काव्य-बोध। रीतिकाल के आरंभ में भारत में केंद्रीय सत्ता के रूप में मुगल प्रतिष्ठित थे। केंद्रीय सत्ता द्वारा छोटे-छोटे रजवाड़ों पर नियंत्रण होने के कारण युद्ध प्रायः नहीं के बराबर होते थे। मुगल दरबार के वैभवयुक्त परिवेश में दो तरह की ही कविता संभव थी–वीरता और शृंगार की। युद्ध की अनुपस्थिति के परिवेश में शृंगार रीतिकालीन काव्य-बोध की केंद्रीय धुरी थी। केंद्रीय सत्ता के कमजोर होने पर स्थानीय रजवाड़ों, नवाबों, सामंतों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया और मुगलकालीन वैभव का जीवन में अनुकरण करने लगे। जीवन में सामंतवादी मूल्यों का बोलबाला होने के कारण प्रदर्शन और विलासिता को बढ़ावा मिलने लगा। इस परिवेश में रीतिकालीन कवियों में अपने आश्रयदाताओं को रिझाने की होड़ लगी रहती थी। इस मायने में रीतिकालीन काव्य-बोध दरबारी संस्कृति के परिवेश से विकसित हुआ, जिसमें शृंगारिकता, चमत्कार-प्रियता, आलंकारिता, अतिशयोक्ति जैसी स्थितियाँ इसके अनिवार्य हिस्सा हैं।

दरबारी संस्कृति के प्रतिपक्ष में विकसित भाव-बोध भी उत्तर मध्यकालीन काव्य-बोध का विशिष्ट पहलू रहा है। रीतिकाल के उत्तरार्द्ध में रीतिमुक्त कवियों ने तद्‌युगीन रीतिवादी मानसिकता व घोर शृंगारिकता के विरोध में आत्मानुभूति को कविता के लिए निर्णायक माना। ये कवि अपनी गहन प्रेम की अनुभूतियों के लिए कवि कर्म में प्रवृत्त होते थे न कि आश्रयदाताओं को रिझाने के लिए। घनानंद, बोधा, ठाकुर जैसे कवि इस काव्य-बोध के प्रतिनिधि कवि हैं। घनानंद कविता के प्रति सजग दायित्व बोध के कवि हैं–

> **"लोग हैं लागि कवित्त बनावत,**
> **मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।"**

रूढ़िगत परिपाटी और अलंकृति-मोह को अनावश्यक बताते हुए ठाकुर आक्रामक तेवर में आलोचना करते हुए कहते हैं–

> **"डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,**
> **लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है।"**

इस प्रकार रीतिकाल के उत्तरार्द्ध में काव्य-बोध के विकसित होने में अनुभूति की तीव्रता और प्रेम के उदात्त पक्ष की भूमिका अहम रही है जो कवियों के जीवन अनुभूति का ही अनिवार्य हिस्सा था।

(3) काव्यशास्त्रीय दबावों से विकसित काव्य-बोध–रीतिकाल के अधिकांश कवि दरबार पर आश्रित थे जिन्होंने आत्म-ज्ञान प्रदर्शन के साथ रसिकों को ज्ञान देने हेतु काव्यशास्त्रीय 'रीति निरूपण' की परंपरा का आरंभ किया। इस काल के रीतिबद्ध कवियों ने अपने राजाओं, सामंतों, नवाबों, जागीरदारों व धनिकों को शास्त्रीय ज्ञान देने के लिए लक्षण ग्रंथों की रचना की। इस काल के

कवियों के आश्रयदाता साहित्य के पारखी नहीं थे बल्कि वे ऐसे विलासी रईस थे जिनमें तक की सूक्ष्मता को समझने का न तो विवेक था, न ही उन्हें इसके लिए अवकाश था। रीतिवद्ध कवियों ने रीति-निरूपण की तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति की। साथ ही ये रचनाकार अपने काव्यशास्त्रीय ज्ञान का धौंस जमाकर अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न कर आर्थिक रूप से सहायता भी प्राप्त करते थे। रीति-निरूपण की यह प्रवृत्ति उत्तर मध्यकाल के काव्य-बोध का अनिवार्य हिस्सा थी।

रीति-निरूपण का मतलब उस लक्षण ग्रंथ से है जिसमें काव्यांगों का लक्षण-निरूपण करके उनके उदाहरण के रूप में स्वनिर्मित पद दिए जाते थे। रीतिबद्ध धारा के कवियों ने कविता लिखने की यह प्रणाली बना ली थी कि पहले दोहे में लक्षण लिखते थे और फिर उसके उदाहरण के रूप में स्वनिर्मित कविता उपस्थित करते थे। इस धारा के कवि पहले संस्कृत के लक्षण या सिद्धांत का अनुवाद ब्रजभाषा में प्रस्तुत करते थे और फिर उदाहरण के रूप में कविता लिखते थे। इस काव्यधारा को 'लक्षण ग्रंथ परंपरा' भी कहते हैं। इस धारा के कवियों में केशवदास, कुलपति, भिखारीदास, पद्माकर, चिंतामणि, देव, मतिराम आदि हैं।

रीतिग्रंथकार सहृदय और कुशल कवि थे। उनका मूल उद्देश्य काव्य की रचना करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय निरूपण करना। अतः ये काव्यांगों की परिभाषा कुछ देते हैं और उदाहरण के रूप में कुछ और प्रस्तुत करते हैं। इसलिए लक्षण एवं उदाहरण के बीच यह असंगति इनके लक्षण-ग्रंथों को संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुवाद भी नहीं बनने देती। काव्यशास्त्रीय विवेचन के लिए इन्होंने सभी काव्यांगों को नहीं चुना है। रीति, वक्रोक्ति और औचित्य की उपेक्षा करते हुए ये रस, अलंकार और ध्वनि-निरूपण को प्राथमिकता देते हैं। कारण यह है कि ये काव्यांग उक्ति-वैचित्र्य एवं शब्द-चमत्कार में सहायक हैं। रीतिकालीन कवियों का महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने अपनी कविता के माध्यम से रस और अलंकार के सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, पर इसके बावजूद यह ध्यान रखने योग्य बात है कि इस काल में कवियों ने रीति (शास्त्र) का निरूपण पहले किया है, कविता बाद में। रीति निरूपण की इसी प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में रीतिकालीन कविता का काव्य-बोध विकसित होता है।

रीति-निरूपण के क्रम में ये आचार्य कवि नायिका-भेद का भी उल्लेख करते हैं। इन्होंने नायिका का वर्गीकरण दो रूपों में किया है–(i) ज्येष्ठा (जिसके प्रति नायक विशेष रूप से अनुरक्त हो) और (ii) कनिष्ठा (अन्य पत्नियाँ जिनसे नायक उतना प्रेम नहीं करता)। आचार्य तोष ने नायिका के इस वर्गीकरण के बारे में लिखा है–

"पिय को जिय जासो रमै, सोई ज्येष्ठा होय
आनि कनिष्ठा जानियै, कहै समाने लोई।"

इसी प्रकार आचार्य कवि अलंकार-निरूपण की ओर भी प्रवृत्त होते हैं। सुरति मिश्र ने एक ही दोहे में लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत करते हुए असंगति अलंकार को निम्न रूप में परिभाषित किया है-

"सो असंगति, कारन अवर, कारज औरे थान।
चलि अहि श्रुति आनहिं डसत, नसत और के प्रान।।"

अर्थात् जहाँ कारण और कार्य में असंगति/विरोधाभास हो, कारण कुछ हो और संपादित कार्य भिन्न हो, वहाँ असंगति अलंकार होता है। यहाँ पर पहली पंक्ति में असंगति अलंकार की परिभाषा दी गई है और दूसरी पंक्ति में श्रुति-परंपरा के द्वारा बताया गया है कि जहाँ साँप डँसता किसी को हो और प्राण किसी और का जाता है। अतः काव्यशास्त्रीय रीति-निरूपण, नायिका भेद, अलंकार निरूपण आदि के क्रम में उत्तर मध्यकालीन कवियों का काव्य-बोध विकसित होता है।

(4) शृंगारिक अवबोध से निर्मित काव्य-बोध–दरबारी परिवेश में उत्तर मध्यकालीन काव्य-बोध का अनिवार्य हिस्सा शृंगारिकता रहा है। कवियों के आश्रयदाता सामान्यतः दरबारी संस्कृति के सामन्त वर्ग से संबंधित थे जो जीवन में ही नहीं कलाओं में भी काम (शृंगार) के उपासक थे। इन कवियों ने अपनी शृंगारिक रचनाओं के माध्यम से अपने आश्रयदाताओं का मनोरंजन कर जीविकोपार्जन हासिल करना चाहा। शृंगार-चित्रण इनकी पहली प्राथमिकता नहीं है। दरअसल इनकी शृंगारिक चेतना का प्रेरक विलासी आश्रयदाताओं का रति-भाव था। अतः इस काल के कवियों के काव्य-बोध के केंद्र में शृंगारिकता अनिवार्य रूप से रही है-

"मनुज रूप है अवतर्यो, तीन वस्तु को जोग।
द्रव्य-उपार्जन, हरि भजन अरू कामिनी-संजोग।"

रीतिकाल काव्य-बोध में शृंगार मूल उपादान रहा है कवियों की जीविका के लिए; हरि भजन तो उनके लिए बहाना भर था। रीतिकाल के काव्य-बोध में शृंगारिकता एक ओर काव्यशास्त्रीय बंधनों के निर्वाह में और दूसरी ओर नैतिक बंधनों की छूट तथा विलासी आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के फलस्वरूप अपना आकार ग्रहण करती है। इस काल के काव्य-बोध के निर्माण में संस्कृत,

प्राकृत परंपरा की घोर श्रृंगारपरक ऐहिक रचनाओं की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इस परंपरा ने रीतिकाल की श्रृंगारिक काव्य दृष्टि को उन्मुक्त और मांसल रूप प्रदान किया। श्रृंगार वर्णन के क्रम में कवियों ने स्त्री के मांसल शरीर एवं शारीरिक क्रियाओं से अपनी कविता को भर दिया–

> **"कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात**
> **भरे भौंन में करत हैं, नैननु ही सौं बात।"**

◆◆◆

---

3. रीतिकाल की प्रमुख काव्य प्रवृत्तियों की व्याख्या कीजिए।

अथवा

रीतिकाल के काव्य की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर–रीतिकाल की प्रमुख काव्य प्रवृत्तियाँ / विशेषताएं–हिंदी साहित्य के इतिहास में उत्तर मध्यकाल को सामान्य रूप से 'रीतिकाल' के नाम से जाना जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'रीतिकाल' के लिए संवत् 1700 से संवत् 1900 (1643 ई. से लेकर 1843 ई.) तक के कालखण्ड का निर्धारण, किया है लेकिन हजारी प्रसाद द्विवेदी 17वीं सदी से 19वीं सदी के मध्य तक की काल सीमा रीतिकाल के लिए निर्धारित करते हैं। आचार्य शुक्ल सहित कई विद्वानों ने स्पष्ट किया है कि रीतिकाल नामकरण में 'रीति' शब्द का प्रयोग रीति-संप्रदाय के संदर्भ में नहीं हुआ है बल्कि इसका अर्थ है- अनुकरण करने की प्रवृत्ति। इस काल में बहुत सी रचनाएँ काव्यशास्त्रीय या अन्य प्रकार के शास्त्रीय ग्रंथों अथवा सिद्धांतों के अनुकरण में लिखी गईं। अनुकरण की यह परंपरा या मानसिकता ही 'रीति' कहलाई। रीतिकाल नामकरण ही इस बात का संकेतक है कि इस काल में रीति-निरूपण की प्रधानता थी।

रीतिकाल की विशिष्ट काव्य-प्रणाली को 'रीतिकाव्य' कहना उचित समझा गया। इस काल के अधिकांश कवि आजीविका के लिए दरबारों में रहते थे और अपने आश्रयदाताओं के मनोरंजन के लिए कविता लिखते थे। यही कारण है कि विषय और प्रस्तुतीकरण दोनों ही दृष्टियों से रीतिकाल की कविता तत्कालीन दरबारी मनोवृत्ति से गहरे रूप में प्रभावित रही है। रीतिकाल की प्रमुख काव्य प्रवत्तियाँ/विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. रीति-निरूपण अथवा आचार्यत्व–रीतिकाल में काव्य जीवन-जगत् के यथार्थ के अनंत रूपों, मानव हृदय के सहज भावों और मानव-चरित्र की विविधता से कटकर रीति-ग्रंथों में बताए रूपों, भावों और नायिका-भेद तक सीमित हो गया। अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के रूपवादी पूर्वाग्रह कला की दरबारी भूमि में महत्त्वपूर्ण हो गए। इससे रीतिकाल में रीति-निरूपण की प्रवृत्ति विकसित हुई। रीतिकाल के अंतर्गत राजाश्रित कवियों में से अधिकांश तथा राजाश्रय से बाहर जनकवियों में से कुछ ऐसे कवि थे, जिन्होंने आत्म-प्रदर्शन की भावना तथा काव्य-रसिक-समुदाय को काव्यांगों का सामान्य ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से ब्रजभाषा मे रीतिग्रंथों का निर्माण किया। रीतिग्रंथों के निर्माण की बहुलता में भी इन कवियों की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति रीति-निरूपण की ही थी।

रीतिकालीन कवि महज दरबारी होने के नाते दरबारी दायित्व का निर्वाह नहीं कर रहे थे। वे कवि-शिक्षक-आचार्य भी थे। इसलिए कवि-शिक्षक-आचार्य के दायित्व का निर्वहन करते हुए उन्होंने संस्कृत के काव्यशास्त्र को सहज और सरल बनाकर हिंदी के काव्यशास्त्र का निर्माण किया है और कवियों की आनेवाली पीढ़ी को काव्यशास्त्र की जानकारी और कविता करने की विधि बतलाने की कोशिश की है। रीति-निरूपण का मतलब उस लक्षण ग्रंथ से है, जिसमें काव्यांगों का लक्षण-निरूपण करके उनके उदाहरण के रूप में स्वनिर्मित पद दिए जाते थे। इस काल के कवियों ने कविता लिखने की प्रणाली बना ली थी कि पहले दोहे में लक्षण लिखते थे और फिर उसके उदाहरण के रूप में स्वनिर्मित कविता उपस्थित करते थे। इसलिए इस काल का रचनाकार आचार्य और कवि दोनों का काम एक साथ करता था। लेकिन इस प्रवृत्ति से सूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण पर गहरा असर पड़ा। किन्तु इससे लक्षण-ग्रंथों में नये सिद्धांत, नये मत सामने नहीं आये, बल्कि पुराने मतों को ही दुहराया गया।

रीतिकाल में रीति-निरूपण की व्यापक प्रवृत्ति का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर इसके भीतर ही कई अंतःप्रवृत्तियाँ भी देखने को मिलती हैं। ग्रंथकार की दृष्टि, काव्यांग विवेचन एवं निरूपण-शैली के आधार पर रीति-निरूपण के अलग-अलग भेद किए जा सकते हैं। ग्रंथकार की दृष्टि के आधार पर रीति-निरूपण के तीन भेद किए जा सकते हैं–

(i) मात्र रीति-कर्म के आधार पर।

(ii) रीति कर्म एवं कवि-कर्म के आधार पर।

(iii) मात्र रीतिवद्ध दृष्टिकोण के आधार पर।

काव्यांग-विवेचन की दो अंतः प्रवृत्तियाँ मिलती हैं–

(i) सर्वांग विवेचन की एवं (ii) विशिष्टांग विवेचन की। सर्वांग-विवेचन के अंतर्गत काव्य-लक्षण, काव्य हेतु, प्रयोजन, काव्य-भेद, शब्द शक्ति, काव्य की आत्मा, काव्य-गुण, दोष, रीति, अलंकार तथा छंद का निरूपण किया गया है। चिंतामणि का 'कविकुल कल्पतरू', देव का 'शब्द रसायन', कुलपति का 'रस रहस्य', दास का 'काव्य निर्णय' इसी तरह के ग्रंथ हैं।

विशिष्टांग विवेचन के अंतर्गत काव्यांगों में रस, अलंकार एवं छंद में से किसी एक अथवा दो अथवा तीनों को विवेचन का विषय बनाया गया है। अधिकांश ग्रंथों में रस के विवेचन में शृंगार रस की प्रधानता है। रस विलास (चिंतामणि), रसार्णव (सुखदेव मिश्र), रस प्रबोध (रसलीन), रसराज (मतिराम), शृंगार-निर्णय (दास) आदि इस कोटि के ग्रंथ हैं।

विवेचन शैली के आधार पर तीन तरह के शैली-भेद किए जा सकते हैं। पहले प्रकार की विवेचन-शैली में लक्षण-उदाहरणों के अतिरिक्त वृत्ति (व्याख्या) देकर विषयों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। दूसरे प्रकार की विवेचन-शैली में एक ही छंद में लक्षण एवं उदाहरण दिए गए हैं। तीसरे प्रकार की शैली में लक्षण के साथ-साथ सरस उदाहरण द्वारा विषय निरूपण किया गया है। यहाँ लक्षण उदाहरण पृथक-पृथक हैं।

रीति-निरूपण का मूल कारण इस काल की सामंती मनोवृत्ति में ढूँढा जा सकता है। यद्यपि ये रीति निरूपक आचार्य कवि-शिक्षक-आचार्य के दायित्व का निर्वाह कर रहे थे, लेकिन अर्थोपाजन इनकी सर्वोच्च प्राथमिकता थी। इसके लिए रीतिकालीन रचनाकार अपने काव्यशास्त्रीय ज्ञान का धौंस जमाकर अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न कर पुरस्कार प्राप्त करना चाहते थे। आश्रयदाता भी साहित्य के पारखी नहीं थे बल्कि ऐसे विलासी रईस थे, जिनमें तर्क की सूक्ष्मता को समझने की न तो शक्ति थी, न ही उन्हें अवकाश था। अपने आश्रयदाताओं को काव्य समझाने के लिए रीतिकवियों ने रीति-निरूपण की तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति की। इसलिए इन कवियों में रीति निरूपण के प्रति मौलिकता का साफ अभाव दिखाई देता है।

रीतिग्रंथकार सहृदय और कुशल कवि थे। उनका मूल उद्देश्य काव्य की रचना करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय निरूपण करना। अतः ये काव्यांगों की परिभाषा कुछ देते हैं और उदाहरण के रूप में कुछ और प्रस्तुत करते हैं। इसलिए लक्षण एवं उदाहरण के बीच यह असंगति इनके लक्षण-ग्रंथों को संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुवाद भी नहीं बनने देती। काव्यशास्त्रीय विवेचन के लिए इन्होंने सभी काव्यांगों को नहीं चुना है। रीति, वक्रोक्ति और औचित्य की उपेक्षा करते हुए ये रस, अलंकार और ध्वनि-निरूपण को प्राथमिकता देते हैं। कारण यह है कि ये काव्यांग उक्ति-वैचित्र्य एवं शब्द-चमत्कार में सहायक हैं। रीतिकालीन कवियों का महत्त्वपूर्ण योगदान यह है उन्होंने अपनी कविता के माध्यम से रस और अलंकार के सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, पर इसके बावजूद यह ध्यान रखने योग्य बात है कि इस काल में कवियों ने रीति (शास्त्र) का निरूपण पहले किया है, कविता बाद में।

रीति निरूपण की प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में रीतिकालीन कविता की विभिन्न प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं। रीतिकाल के पहले तक अभिधात्मक शैली में लिखी गई कविता को उत्तम माना जाता था। लाक्षणिक शैली में लिखी गई कविता साधारण मानी जाती थी और व्यंजनात्मक शैली की कविता निम्न कोटि की मानी जाती थी। कारण यह था कि लक्षणा और व्यंजना साधारणीकरण और रस-निष्पत्ति में रुकावट पैदा करती थी। लेकिन रीतिकालीन कवि देव इस अवधारणा को उलट देते हैं–

"अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लक्षणा लीन
अधम व्यंजना रस-विरस, उल्टी कहत नवीन।"

रीति-निरूपण के क्रम में ये आचार्य नायिका-भेद का भी उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार आचार्य अलंकार-निरूपण की ओर भी प्रवृत्त होते हैं। इस रूप में रीति-निरूपण की समस्त प्रवृत्तियों के विश्लेषण के फलस्वरूप कहा जा सकता है कि इस काल के समस्त रीति कवियों ने अपने ग्रंथों का निर्माण सामान्य पाठकों को काव्यशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए किया है। यद्यपि हिंदी के रीति ग्रंथकारों ने लक्षण-निरूपण में संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथों को ही मूल आधार माना है, फिर भी उनमें विवेचन की वह सूक्ष्मता और गहराई नहीं आ सकी है जो संस्कृत में दिखाई पड़ती है। हिंदी के रीति ग्रंथकारों में मौलिक उद्भावनाओं का सर्वथा अभाव है। ये ग्रंथकार मूलतः कवि-शिक्षक आचार्य हैं।

2. काव्यत्व और आचार्यत्व का मिश्रण–शास्त्र और रचना में एक समानान्तर रूप से अलगाव रहा है। लेकिन रीतिकाल में शास्त्रीयता और रचनात्मकता का यह समानान्तर अलगाव खत्म हो जाता है और रचना (काव्य) और शास्त्र एक ही व्यक्ति में समाहित हो जाते हैं। केशवदास, चिंतामणि, भिखारीदास और पद्माकर जैसे रचनाकारों की मूल चिंता संस्कृत काव्यशास्त्र के नियमों के आधार पर रचना (काव्य) करना और उस शास्त्र को लोकभाषा में रूपान्तरित करना रही है। इसलिए रीतिकाल के इन कवियों को आचार्य कवि भी कहा गया है। रीतिकालीन काव्यत्व और आचार्यत्व के मिश्रण का एक उदाहरण देव की उक्ति में देखा जा

सकता है–"रसनि सार सिंगार रस प्रेम सार सिंगार।" आचार्य शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों की धारणा है कि वे मूलतः रचनाधर्मी थे। आचार्यत्व उनके समय और आजीविका की माँग से उत्पन्न हुआ था। अतः रीतिकाल में शास्त्र और रचनात्मकता का अपूर्व मिश्रण दिखाई देता है।

3. शृंगार की व्यापकता–रीतिकालीन काव्य का मूल कथ्य या प्रतिपाद्य शृंगार रहा है। रीति कवि भक्ति भावना (राधा-कृष्ण) का इस्तेमाल ढाल रूप में करते हुए कालान्तर में इसी माध्यम से अपनी शृंगार-भावना की उन्मुक्त अभिव्यक्ति करने लगे।

रीतिकालीन काव्य में शृंगार की व्यापकता का कारण उस काल के सामाजिक संदर्भों, साहित्यिक परंपराओं और आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति में देखा जा सकता है। कवियों के आश्रयदाता सामान्य रूप से सामन्त वर्ग से संबंध रखते थे जो काम देवता का उपासक था। शृंगार-चित्रण इनकी पहली प्राथमिकता नहीं है। दरअसल इनकी शृंगारिक चेतना का प्रेरक आश्रयदाताओं का रति-भाव था। अतः इस काल के कवियों ने शृंगार को केंद्र में रखकर कविता लिखी। रीतिकाल में शृंगारिकता एक ओर काव्यशास्त्रीय बंधनों के निर्वाह में तथा दूसरी ओर नैतिक बंधनों की छूट तथा विलासी आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारणस्वरूप अपना आकार ग्रहण करती है। लेकिन इन कवियों के शृंगार-चित्रण पर दरबारी संस्कृति का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। इस काल के शृंगार का आधार है–नारी का मांसल शरीर। रीतिकालीन शृंगार की महत्त्वपूर्ण विशेषता है–मादकता। रीतिकालीन कवि अपनी कविता को मादकता के तत्वों से परिपूर्ण रखना चाहता है। इसलिए कवि शृंगार वर्णन के क्रम में आडंबरपूर्ण वातावरण और स्त्री के कामुक वेशभूषा का वर्णन करता है। रीतिकाल के शृंगार का चित्रण तीन शैलियों में हुआ है- रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध एवं रीतिमुक्त।

रीतिबद्ध अर्थात् आचार्य कवियों ने काव्यांग निरूपण करते हुए उदाहरण स्वरूप शृंगारिक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। संस्कृत आचार्य भी काव्यांग निरूपण के क्रम में शृंगारपरक उदाहरण ही दिया करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि काव्यशास्त्र के सभी अंगों के उदाहरण इसी एक रस में प्राप्त होने लगे। यही परंपरा हिंदी में भी चली। शृंगारिक रचनाओं से ये कवि अर्थलाभ, अपनी तथा आश्रयदाताओं की काम-वासना की तृप्ति एवं काव्यशास्त्रीय उद्देश्यों की सिद्धि करते थे। इन कवियों ने प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने अथवा वासना के उन्नयन का प्रयत्न नहीं किया।

रीतिसिद्ध कवियों ने शृंगार रस की दूसरी शैली का प्रणयन किया है। इनका काव्य रीति-निरूपण से दूर है, किंतु रीति की छाप लिए हुए है। इस खेमे के कवियों ने शृंगार में मोहकता का समावेश कर दिया है। अपने सीमित क्षेत्र में इनका काव्य अत्यंत व्यंजक एवं प्रभावोत्पादक है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि "उसमें चित्त को विश्राम देने का महान गुण है।" बिहारी, रसनिधि आदि इस वर्ग में हैं।

शृंगार रस की तीसरी शैली रीतिमुक्त कवियों द्वारा अपनायी गई है। ये 'प्रेम की पीर' के सच्चे गायक थे। इनके शृंगार में प्रेम की तीव्रता भी है एवं आत्मा की पुकार भी। घनानंद, आलम इस वर्ग के प्रमुख कवि हैं।

रीतिकाव्य का शृंगार एक चेतन व्यक्ति का दूसरे चेतन व्यक्ति के प्रति सक्रिय आकर्षण उतना नहीं, जितना कामुक व्यक्ति का उपभोग्य वस्तु के प्रति लोलुप आकर्षण है। यहाँ काम-वृत्ति की अभिव्यक्ति में पूर्ण स्वच्छंदता है। रीतिकालीन शृंगार जीवन से कोई गहरा सरोकार नहीं रखता। उसका बुनियादी आधार रसिकता है, प्रेम नहीं। केवल रीतिमुक्त कवि अपवाद हैं। उनके प्रेम-चित्रण को सच्चा एवं स्वाभाविक कहा जा सकता है।

रीतिकालीन शृंगार का स्वरूप भोगपरक होने के बावजूद गार्हस्थिक भी है। इस काल के शृंगार के स्वच्छंद व कुण्ठारहित रूप पर डॉ. नगेंद्र लिखते हैं- "रीतिकाल में काम-वृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण स्वच्छंदता थी। अतएव रीतिकाव्य की शृंगारिकता में अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रंथियाँ नहीं हैं। उसमें स्वीकृत रूप से शरीर सुख की साधना है, जिसमें न आध्यात्मिकता का आरोप है, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयास।"

रीतिकाल के शृंगार-चित्रण में शृंगार के दोनों पक्षों संयोग और वियोग का विस्तृत एवं विविध रूपों में चित्रण हुआ है। यहाँ नख-शिख वर्णन, नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन, बारहमासा आदि शृंगार का कोई भी रूप अछूता या अपूर्ण नहीं रहा है। नख-शिख वर्णन में कवि ने परंपरागत ढंग से नायिका के शरीर के विभिन्न अंगों के स्थूल सौंदर्य का वर्णन किया है जिसमें चमत्कार-प्रदर्शन पर विशेष ध्यान रखा जाता था, जिससे दरबारी या आश्रयदाताओं का मनोरंजन हो सके-

"आँखें अधखुली, अधखुली खिरकी है खुली
अधखुले आनन पै अधखुली अलकैं।।"(पद्माकर)

4. अतिशय अलंकरण की प्रवृत्ति–रीतिकाल में अलंकरण की प्रवृत्ति बहुत थी। इस काल के काव्य में अलंकरण की प्रधानता देखकर ही **डॉ. रसाल** ने इसे **'अलंकृत काल'** कहना अधिक उचित समझा है। रीतिकाल के सामंती तंत्र में कविता एक वस्तु के रूप

में परिणत हुई, इसलिए कविता की अंतर्वस्तु की तुलना में उसका रूप तत्काल महत्त्वपूर्ण हो गया। रूप का सीधा संबंध अलंकार से है, इसलिए कवियों ने अलंकार को कविता के शोभाकारक धर्म के रूप में नहीं बल्कि उसमें चमत्कार उत्पन्न करने के लिए अपनाया। रीतिकालीन कविता दरबार में आनंद प्राप्त करने के उद्देश्य से लिखी गई स्थूल देहवादी कविता थी, अतः अलंकारों, विशेषतः शब्दालंकारों पर खास ध्यान दिया गया—**"कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।"**(बिहारी)

वस्तुतः अलंकरण रीतिकाव्य की एक शक्ति भी है और सीमा भी। जहाँ कवि ने अलंकारों के माध्यम से कविता में गति और चित्र उत्पन्न करने की कोशिश की है वहाँ कविता का प्रभाव बढ़ा है, लेकिन भावपूर्ण मार्मिक प्रसंगों में अलंकारों के अनावश्यक प्रयोग से कविता की प्रभावान्विति क्षतिग्रस्त भी हुई है।

5. स्वच्छन्दता—रीतिकाल के भीतर स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति रीतिमुक्त कवियों की अपनी मौलिक विशेषता है। रीतिमुक्त कवियों ने खुले शब्दों में एवं सजग रूप से रीतिबद्धता एवं दरबारी मनोवृत्ति का विरोध किया। इन कवियों ने किसी रीति, परिपाटी या काव्यशास्त्र के नियमों में आवद्ध होकर कविता को रचना मानने से इनकार किया। रीतिकालीन कविता के पारंपरिक विधान का विरोध करते हुए ठाकुर कहते हैं—

"डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है।"

रीतिमुक्त कवियों ने स्वच्छन्दता को सिर्फ कविता के स्तर पर नहीं बल्कि जीवन में भी अपनाया। इन कवियों ने आंतरिक अनुभूति के रूप में स्वयं के प्रेम को कविता का विषय बनाया। इन्होंने प्रेम का संवेदनशील, गहन एवं स्वाभाविक चित्रण अपनी कविता में किया है। इनके प्रेम में कहीं भी आलंकारिता, कृत्रिमता, छल-कपट की थोड़ी-सी भी गुंजाइश नहीं है—

"अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नैकु सयानप बाँक नहीं
तहाँ साँचें चलै तजि आपुनपौ, झिझकें कपटी जे निसाँक नहीं।"(घनानन्द)

6. प्रकृति का उद्दीपन-रूप—रीतिकाल के कवियों की एक प्रवृत्ति प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन करने की रही है। प्रकृति यहाँ नायक-नायिका के भावों को उद्दीप्त करने के लिए वर्णित हुई है। श्रृंगार-वर्णन के प्रसंग में संयोग और वियोग—दोनों पक्षों के चित्रण में प्रकृति या तो आलंकारिक रूप में या भावों को उद्दीप्त करने वाली शक्ति के रूप में चित्रित हुई है। प्रकृति के उद्दीपन-रूप का वर्णन रीतिकाल के अधिकांश कवियों में मिलता है। प्रकृति के उद्दीपन-रूप का उदाहरण निम्न रूप से देखा जा सकता है—

"फूले ना पलास ये पलास कै वसन्त आज,
फाड़ि के करेजा हार डारन पै डारिगो।।"

अर्थात् बसन्त ऋतु में पलास फूल के फूलने से उत्पन्न शोभा से विरहिणी का कलेजा फटा जा रहा है। किन्तु इस काल के कुछ कवियों द्विजदेव, ग्वाल, गुमान और विशेष रूप से सेनापति ने प्रकृति का स्वाभाविक, हृदयग्राही एवं प्रभावोत्पादक चित्रण भी किया है।

7. रीतिकाल की अन्य गौण प्रवृत्तियाँ—रीतिकाल के भीतर ही रीतिनिरूपण व श्रृंगार जैसी प्रमुख प्रवृत्तियों के समानान्तर कतिपय गौण प्रवृत्तियों भी उस समय विकसित थी। दरबार के बाहर विकसित रीतिकाल की गौण प्रवृत्तियों में नीतिकाव्य और भक्तिकाव्य महत्त्वपूर्ण है जबकि दरबार के भीतर वीरकाव्य जैसी प्रवृत्तियाँ भी अपने प्रखर रूप में मौजूद थी।

8. रीतिकाल की शिल्पगत प्रवृत्तियाँ—दरबारी संस्कृति ने रीतिकालीन अंतर्वस्तु को ही नहीं, बल्कि शिल्पगत प्रवृत्तियों के स्वरूप निर्धारण में अहम भूमिका निभाई। आधुनिक आलोचना की शब्दावली में रीतिकाल की कविता 'शुद्ध कलात्मक कविता' है इसलिए इस कविता में कलात्मक कसाव और अभिव्यक्ति की लाघवता का अपूर्ण मिश्रण दिखाई देता है। आलोचक विजयदेव नारायण साही ने रीतिकाल के कलागत वैशिष्ट्य के बारे में ठीक ही लिखा है— **"रीतिकाल की कविता आज के पाठकों को चाहे कुछ न दे, लेकिन वह आज के रचनाकारों को कहने के सलीके का ज्ञान और संस्कार दे सकती है।"**

9. काव्य रूप—काव्य-रूप के धरातल पर रीतिकाल में काफी विविधता दिखाई देती है। प्रबंध, मुक्तक, सतसई साहित्य तथा शतक आदि कई शैलियों में काव्य की रचना इस काल में होती रही। लेकिन काव्य-शैली के रूप में रीतिकालीन कवियों ने मूल रूप से मुक्तक को ही अपनाया है। कवियों द्वारा मुक्तक काव्य रूप अपनाये जाने के पीछे दो कारण रहे हैं—(i) लक्षण-ग्रंथों का निर्माण होना तथा (ii) दरबारी वातावरण का प्रभाव। लक्षण-ग्रंथ मुक्तक के अलावा अन्य काव्य रूप में लिखे नहीं जा सकते थे। साथ ही रीतिकवियों को दरबार में अपनी कला का वैभव-प्रदर्शन के लिए मुक्तक शैली सर्वथा अनुकूल थी। दरअसल रीतिकाल को मुक्तक कला के उत्कर्ष के लिए जाना जाता है। मुक्तक की प्रधानता होने के साथ इस युग की कविता में प्रबंध काव्य- परंपरा का भी विकास

होता रहा है। यह बात अलग है कि प्रबंध रचनाएँ कवित्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इस युग में पूर्व प्रचलित सभी प्रकार की प्रबंध काव्यधाराओं का समावेश दिखाई देता है। सबल सिंह का 'महाभारत' (कथात्मक प्रबंध काव्य), कासिम शाह का 'हंस जवाहिर', नूरमुहम्मद का 'इंद्रावती' (सूफी प्रबंध), गुरु गोविन्द सिंह का 'गोविन्द रामायण' (रामकाव्य), ब्रजवासी दास का 'ब्रजविलास' (कृष्ण काव्य), जोधराज का 'हम्मीर रासो', गोरे लाल का 'छत्रसाल प्रकाश' आदि प्रबंध रचनाएँ रीतिकाल में महत्त्वपूर्ण हैं।

10. काव्य-भाषा–रीतिकाल की प्रमुख साहित्यिक भाषा ब्रज रही है। ब्रजभाषा अपनी प्रकृति में मधुर, कोमल और सरस होने के साथ मध्य देश की भाषा होने के कारण उस काल की काव्यात्मक अभिव्यक्ति का बेहतरीन माध्यम बन गई। कोमल भावों की अभिव्यक्ति के साथ ब्रज भाषा में अलंकरण की अपार क्षमता थी। यही कारण है रीतिकाव्य के कवि इस भाषा के प्रति न केवल आकृष्ट हुए बल्कि इनके यहाँ ब्रजभाषा का परिष्कृत रूप भी देखने को मिलता है। इस काल में ब्रजभाषा का इतना व्यापक प्रयोग साहित्य में हुआ कि यह ब्रजमण्डल की सीमा से बाहर भी प्रयुक्त होने लगी। ब्रजभाषा की इसी व्यापकता के संदर्भ में भिखारीदास कवि ने ठीक ही कहा है–

"ब्रजभाषा हेत ब्रजभाषा ही न अनुमानै।"

रीतिकाल की भाषा में ब्रजभाषा के अतिरिक्त अरबी, फारसी और देशज शब्दों का भी भरपूर इस्तेमाल हुआ है। दरबारों की शिष्ट भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों का प्रचलन उस समय बढ़ गया था। अतः स्वाभाविक है कि ये कवि अपने परिवेश में तत्कालीन प्रचलित शब्दों का इस्तेमाल कविता में करें। ब्रजभाषा में देशज शब्दों के रूप में अवधी, राजस्थानी, बुंदेलखण्डी आदि शब्दों का भी सहज रूप में प्रयोग हुआ है। तुकबंदी और चमत्कार उत्पन्न करने के मोह के कारण कवियों ने शब्दों के मनमाने प्रयोग भी किए। रीतिकवियों ने व्याकरण की परवाह न करते हुए शब्दों को तुकबंदी के लिए शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने में रुचि लेने लगे जिससे कविता में कारक चिह्नों की गड़बड़ी और लिंगगत दोषों की भरमार होने लगी। लेकिन रीतिमुक्त कवियों ने भाषा के साथ काफी संयम के साथ प्रयोग किया जिससे उनके यहाँ भाषागत दोष नहीं मिलता है। इस धारा के कवियों ने परिनिष्ठित ब्रज भाषा का बेहतरीन प्रयोग किया है जिससे आचार्य शुक्ल भी मुग्ध हो उठे।

रीतिकालीन कवियों ने शब्द की लक्षणा शक्ति का प्रयोग करके ब्रजभाषा को सशक्त एवं सर्जनशील बनाया है। घनानन्द ने अपनी कविता में लक्षणा का बेहतरीन प्रयोग किया है। ब्रजभाषा के कवियों ने अपनी भाषा को जीवंत बनाने के लिए मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी किया है, जैसे–**'नैन नचाइ कही मुसुकाई'**, **'नैनन को कजरा करि राख्यौं'**, **'तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला'** आदि। वर्णन-विन्यास-वक्रता द्वारा भाषिक सौष्ठवता प्रदान करने की कोशिश की है। इसके अलावा नाद-सौन्दर्य और चित्रात्मकता रीतिकालीन भाषा की महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो इस कविता को सहज ग्राह्य और लोकप्रिय बनाने में मदद करती है।

11. अलंकार–रीति कवियों को अलंकृति का मोह था। इस काल में अलंकारों का विवेचन और काव्य में इनका प्रयोग विशेष रूप से प्रसिद्ध है। अकारण नहीं है कि मिश्रबंधुओं ने रीतिकाल का नाम ही 'अलंकृतिकाल' रखा था। दरबार में काव्य रचने के लिए अलंकार शास्त्र का ज्ञान होना उस समय के कवियों की तत्कालीन जरूरत थी। रीतिकवियों की स्पष्ट मान्यता थी कि अलंकार के बिना काव्य में सौंदर्य संभव नहीं। केशवदास ने लिखा है-

"यदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त
भूषण बिनु न बिराजई, कविता, बनिता, मित्त।।"

रीतिकवि अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए अक्सर कविता में अलंकार के प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न करना चाहते थे। रीतिकवियों ने शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों दोनों का सफल प्रयोग किया है। अनुप्रास आदि अलंकारों के प्रयोग में नादात्मक सौंदर्य रीतिकाव्य में लक्षित होता है-

"गोरी गरबीली तेरे गात की गुराई आगे....."

12. छन्द–छन्दों के प्रयोग में भी रीतिकाल के कवि निपुण हैं। शृंगार भाव की अभिव्यक्ति के लिए इस काल के कवियों ने सवैया छन्द का प्रयोग किया, वहीं वीर रस के लिए अधिकतर कवित्त छन्द को चुना है। लेकिन दरबारी मनोवृत्ति के अनुरूप दोहा छन्द रीतिकाव्य का सबसे लोकप्रिय छन्द था। भक्ति और नीति का सम्पूर्ण साहित्य दोहा छन्द में ही रचा गया। कोमल भावों, भाषा के माधुर्य एवं चारूता की दृष्टि से सवैया रीतिकाल का सर्वश्रेष्ठ मधुरतम छन्द माना गया। देव, पद्माकर, घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि के सवैया की सरस काव्य-सर्जना रीतिकाव्य की अनूठी एवं विशिष्ट उपलब्धि रही है। रीतिकालीन काव्य की प्रकृति के अनुकूल कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा, सोरठा, बरवै और रोला जैसे छंद इस युग में काफी प्रचलित हुए।

◆◆◆

(ख) काव्य-प्रवृत्तियाँ

1. रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध

4. रीतिकालीन काव्य-धाराओं पर चर्चा करते हुए रीतिबद्ध काव्य का परिचय दीजिए।

अथवा

रीतिकालीन रीतिबद्ध काव्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–रीतिकाल की प्रमुख काव्य-धाराएँ–आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में रीतिकाल की काव्यधाराओं का कोई बहुत स्पष्ट विभाजन नहीं किया है। उन्होंने चर्चा के लिए रीति ग्रंथकार कवियों के अतिरिक्त एक श्रेणी इस काल के अन्य कवियों की बनाई है। अन्य कवियों की श्रेणी की भूमिका में कुल 6 प्रधान वर्गों का उल्लेख किया गया है, लेकिन उन्होंने कवियों को इन वर्गों में विभाजित करके उन पर चर्चा करना आवश्यक नहीं समझा। 'रीतिकाल के अन्य कवियों के प्रधान वर्गों के उल्लेख का उनका उद्देश्य उन कवियों की रचनात्मक विविधता को उजागर करना मात्र था।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने हिंदी साहित्य के उत्तर मध्यकाल की रचनाओं को मुख्यतः तीन धाराओं में विभाजित किया है। आचार्य मिश्र ने अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का अतीत' में उत्तर मध्यकाल को 'रीतिकाल' कहने के बजाय 'शृंगार काल' कहना उचित समझा है। इसके बावजूद काव्यधाराओं का उनका विभाजन 'रीति' केंद्रित ही है। इसका अर्थ यह हुआ कि उत्तर मध्यकाल में काव्यशास्त्र की परिपाटी अथवा रीति के अनुसरण की प्रवृत्ति को ही मुख्य मानकर उन्होंने इस काल की मुख्य काव्यधाराओं का नामकरण किया है। कुछ अपवादों के अतिरिक्त उनके बाद के साहित्य-इतिहासकारों ने भी थोड़े-बहुत मतभेद के साथ इसी विभाजन को स्वीकार किया है। ये तीन मुख्य काव्यधाराएँ निम्नलिखित हैं–

रीतिकालीन काव्यधाराएं

↓

1. रीतिबद्ध काव्यधारा

↓

2. रीतिसिद्ध काव्यधारा

↓

3. रीतिमुक्त काव्यधारा

रीतिबद्ध काव्यधारा का विकास–रीतिबद्ध काव्यधारा के अंतर्गत रीतिकाल के कवि और उनके काव्यग्रंथ सम्मिलित हैं जो काव्यशास्त्र में वर्णित रीति अथवा काव्य-परिपाटी से बंधे हुए हैं। इन कवियों ने प्रकट रूप से काव्यांग निरूपण के लिए रचनाएँ कीं। 'काव्यांग निरूपण' का सरल अर्थ है–काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित कविता के विविध अंगों को उदाहरण सहित प्रस्तुत करना। विभिन्न रसों, अलंकारों, छंदों आदि के लक्षण बताकर उनके उदाहरण देते हुए जो रचनाएँ रची गई वे रीतिबद्ध काव्यधारा के अंतर्गत आती हैं। इसीलिए इन कवियों को 'लक्षण-ग्रंथकार' भी कहा जाता है। इन कवियों ने काव्यांग निरूपण के लिए आम तौर पर संस्कृत के कुछ ग्रंथों का अनुसरण किया, जिनमें प्रमुख हैं–जयदेव का 'चंद्रालोक', अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानंद', मम्मट का 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ का 'साहित्य दर्पण।'

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इन कवियों को 'रीतिग्रंथकार कवि' की संज्ञा दी हैं। इसी प्रकार, डॉ. नगेंद्र इन कवियों को रीतिबद्ध कवि कहने के पक्ष में नहीं हैं, बल्कि वे इन्हें 'रीतिकार' या 'आचार्य कवि' कहना उचित मानते हैं। इसके बावजूद आमतौर पर विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा किया गया नामकरण अर्थात 'रीतिबद्ध' कवि ही सर्वाधिक प्रचलित और स्वीकृत है।

'रीतिबद्ध काव्यधारा' के रचनाकारों के बारे में एक सामान्य बात यह रही है कि लगभग ये सभी कवि राज्याश्रित रहे हैं। इसलिए यह माना जाता है कि इन कवियों की रचनाओं का उद्देश्य अपने आश्रयदाता राजाओं के समक्ष अपने काव्यशास्त्रीय ज्ञान से युक्त कवित्त-शक्ति का प्रदर्शन करना था। इसके अलावा उनकी रचनाओं का उद्देश्य आश्रयदाता की रुचियों को ध्यान में रखकर उन्हें मनोरंजन उपलब्ध करवाना भी होता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई बार इन कवियों को अपने कौशल का उपयोग काव्य प्रशिक्षण देने के लिए भी करना पड़ता था। उदाहरण के लिए, केशवदास के ग्रंथ 'कविप्रिया' का उल्लेख किया जा सकता है। केशवदास ओरछा नरेश इंद्रजीत के दरबार में रहते थे। ऐसा माना जाता है कि उन्होंने अपने इस ग्रंथ की रचना दरबार की प्रधान नर्तकी प्रवीण राय को कविता की शिक्षा देने के उद्देश्य से की थी। यह कहा जा सकता है कि काव्यांग निरूपण का एक उद्देश्य सरल लोक भाषा में संस्कृत काव्यशास्त्र की परिपाटी अथवा कविता रचने की रीति की शिक्षा देना भी था। इसीलिए इन ग्रंथों में विभिन्न रसों, छंदों, अलंकारों आदि के विषय में संस्कृत के काव्यशास्त्रीय विद्वानों के मतों को पहले कवित्त में बताया जाता था और फिर उसके उदाहरण दिए जाते थे। उदाहरण के लिए इस तरह का एक पद केशवदास की कृति 'छंदमाला' से उधृत किया जा सकता है, जिसमें सुप्रिय छंद का लक्षण इस तरह बताया है—

"चौदह लघु गुरु एक अरु सुप्रिय छंदप्रकास। अक्षर प्रतिपद पंचदस आनहु केसवदास॥"

लक्षण निरूपण की प्रक्रिया को समझने के लिए महाराज जसवंत सिंह की कृति 'भाषाभूषण' का यह एक दोहा देखें—**"अलंकार अत्युक्ति यह, बरनत अतिसाय रूप। जाचक तेरे दान ते, भए कल्पतरु भूप।"** इस दोहे में अत्युक्ति अलंकार को उदाहरण सहित समझाया गया है। पहली पंक्ति में लक्षण और दूसरी पंक्ति में उदाहरण आया है। पहली पंक्ति में यह बताया गया है कि अत्युक्ति अलंकार वहाँ होता है जहाँ किसी बात को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाए। दूसरी पंक्ति में इसका उदाहरण इस तरह दिया गया है कि दानी राजा के दान को पाकर याचक स्वयं कल्पवृक्ष के समान दानी बन गए हैं। कल्पवृक्ष का आशय एक ऐसे वृक्ष से है जिससे जो भी कामना की जाए वह तत्काल पूरी हो जाती है। याचक का कल्पतरु होना दर्शाता है कि दाता राजा तो कल्पवृक्ष से भी महान रहा होगा। इस बढ़ा-चढ़ाकर की गई प्रशंसा के कारण इस दोहे में अत्युक्ति अलंकार है। एक ही पंक्ति में लक्षण उदाहरण का यह अनोखा संयोजन कुछ ही कवियों की रचनाओं में मिलता है। प्रायः लक्षण ग्रंथकार कवियों ने पहले स्वतंत्र रूप से लक्षण कहे हैं, और फिर उदाहरण के लिए अलग से पद रचना की है।

इस प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि रीति ग्रंथकार कवियों ने कविता लिखने की एक प्रणाली ही बना ली कि पहले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखना, फिर उसके उदाहरण के रूप में कवित्त या सवैया लिखना। शुक्ल जी ने इसे 'अनूठा दृश्य' कहा है। उन्होंने लिखा है कि संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लोग रहे जबकि हिंदी काव्य क्षेत्र में यह भेद लुप्त-सा हो गया। इसीलिए इन कवियों को 'आचार्य कवि' भी कहने की परंपरा है। साथ ही यह भी ध्यान रखने वाली बात है कि काव्यांग निरूपण के उदाहरण के लिए मौलिक रचनाएँ रचने के कारण ये रचनाकार मूलतः कवि ही थे, जिन्होंने काव्यांग निरूपण को अपनी काव्य रचना के माध्यम के रूप में उपयोग किया। इस पद्धति से रीतिकाल में भारी मात्रा में रचनाएँ हुई। यह कहा जा सकता है कि इस धारा के कवियों में जो आचार्यत्व था, वह एक तरह से उनकी मौलिक काव्यप्रतिभा की अभिव्यक्ति में सहायक ही सिद्ध हुआ। इन कवियों ने अपने आचार्यत्व के बल पर कोई नवीन स्थापना की हो अथवा पूर्व के उपलब्ध ज्ञान में कोई विस्तार किया हो, इसके प्रमाण नहीं मिलते।

लेकिन रस, अलंकार, छंद आदि के लक्षण निरूपण के क्रम में इन कवियों ने अनेक ऐसी रचनाएँ कीं जिन्हें पर्याप्त लोकप्रियता और सराहना मिली।

इस धारा के कुछ प्रमुख कवि और उनकी कुछ कृतियों के नाम निम्नलिखित हैं—

केशव	—	रसिकप्रिया, रामचंद्रिका, कविप्रिया, जहाँगीर जसचंद्रिका आदि।
चिंतामणि	—	काव्य विवेक, कविकुल कल्पतरु, काव्य प्रकाश आदि।
पद्माकर	—	हिम्मतबहादुर विरुदावली, जगद्विनोद, पद्माभरण, गंगा लहरी आदि।
देव	—	भावविलास, अष्टयाम, भवानी विलास, काव्य रसायन आदि।
मतिराम	—	ललित ललाम, छंदसार, साहित्यसार, लक्षण शृंगार आदि।
जसवंत सिंह	—	भाषाभूषण, अनुभवप्रकाश, आनंदविलास, प्रबोधचंद्रोदय नाटक आदि।
भिखारी दास	—	रस सारांश, काव्यनिर्णय, नामप्रकाश कोश, छंद प्रकाश आदि।

दूलह — कविकुल कंठाभरण।

भूषण — शिवराज भूषण, शिवा बावनी, छत्रसाल दशक।

ग्वाल कवि — यमुना लहरी, भक्तभावना, रसिकानंद, रसरंग, दूषण दर्पण आदि।

प्रतापसाहि — व्यंग्यार्थ कौमुदी, काव्य विलास, काव्य विनोद, श्रृंगार शिरोमणि आदि।

इस प्रकार रीतिकाल के जिन कवियों ने शिक्षा के उद्देश्य से काव्य के विभिन्न अंगों, अलंकार, रस, नायक-नायिका भेद, छंद आदि लक्षणों के निरूपण (विवेचन) के साथ उनके उदाहरण प्रस्तुत करते हुए रीतिग्रंथों की रचना की, उन्हें 'रीति-काव्य' कहा गया। इस काव्य धारा की शुरूआत भक्तिकाल में हो चुकी थी। आचार्य शुक्ल के अनुसार, "रीतिबद्ध ग्रंथ जो लिखने बैठते थे उन्हें प्रत्येक अलंकार या नायिका को उदाहृत करने के लिए पद्य लिखना आवश्यक था जिनमें सब प्रसंग उनकी स्वाभाविक रुचि या प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं हो सकते थे।

रीतिबद्ध कवियों के तीन वर्ग हैं–

(1) अलंकार निरूपक आचार्य, (2) रस और नायक-नायिका भेद के निरूपक आचार्य तथा (3) सर्वांग निरूपक आचार्य। कुछ समीक्षकों ने पिंगल निरूपक आचार्यों की भी एक चौथी कोटि निर्धारित की है।

(1) अलंकार निरूपक आचार्यों ने अपने लक्षण ग्रंथों के निर्माण के लिए संस्कृत ग्रंथों 'चंद्रालोक' तथा 'कुवलयानंद' को अलंकार विश्लेषण का आधार बनाया। इन आचार्यों में केशवदास, जसवंत, मतिराम, भूषण, गोप, रसिक गोविंद, दूलह, गोकुलनाथ तथा पद्माकर के नाम लिए जा सकते हैं।

(2) रस और नायक-नायिका भेद के निरूपक आचार्यों की दो कोटियाँ हैं–कुछ ने मूल रूप से नायिका भेद और स्थूल रूप से श्रृंगार रस का निरूपण किया है। कुछ आचार्य ऐसे भी रहे जिन्होंने सभी रसों पर विचार किया। किंतु सभी की दृष्टि श्रृंगार रस की ओर अधिक केंद्रित रही। इस वर्ग के आचार्यों में तोषकवि, मतिराम, देव, कृष्णभट्ट, श्रीपति, उदयनाथ, सोमनाथ, बेनी और पद्माकर आदि सम्मिलित हैं।

(3) सर्वांग निरूपक आचार्यों ने काव्य के सभी अंगों का विवेचन किया। उन्होंने काव्य के लक्षण, रस, छंद, अलंकार, ध्वनि, शब्द-शक्ति, रीति, गुण-दोष, काव्य प्रयोजन, नायक-नायिका भेद आदि प्रसंगों का चित्रण करने का यथोचित प्रयास किया। आचार्य चिंतामणि, कुलपति मिश्र, देव, सुरति मिश्र, कुमारमणि शास्त्री, सोमनाथ, श्रीपति, भिखारीदास, प्रतापसिंह आदि आचार्य इस क्षेत्र के प्रमुख कवि हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी में रीतिग्रंथ रचना की परंपरा का प्रारंभकर्ता आचार्य चिंतामणि को माना है। लेकिन नए शोधों व अध्ययनों के बाद अधिकतर विद्वानों ने केशवदास को रीतिग्रंथ रचना का प्रवर्तक माना है। उनके द्वारा रचित 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' दोनों ही उत्तम कोटि के ग्रंथ माने जाते हैं जिनसे केशवदास के बाद के कवियों ने अपनी रचना के लिए आधार ग्रहण किया।

हिंदी में रीतिग्रंथ रचने की परंपरा संस्कृत से आई। रीतिकाल का अलंकारशास्त्र हिंदी में प्रतिष्ठित हो रहा था तथा संस्कृत अलंकारशास्त्र का अंत। यह एक सुंदर संयोग है। केशव, श्रीपति, देव, भिखारीदास जैसे कुछ आचार्यों ने अपनी मौलिकता दिखाई किंतु अधिकांश ने संस्कृत का ही अनुकरण किया।

भारत में काव्यशास्त्र की लंबी परंपरा रही है। इसके तहत छह विचारधाराएँ जाती हैं–रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य। इन्हें 'संप्रदाय' कहा जाता है। हिंदी में रीतिकाल के लक्षण-ग्रंथों पर इनमें से तीन प्रमुख संप्रदायों का प्रभाव पड़ा है। वे हैं–अलंकार, रस और ध्वनि। केशव जैसे कुछ कवि शास्त्र रचना कर आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए तो अन्य कवियों में भी आचार्यत्व की होड़-सी लग गई। यहाँ तक कि भूषण जैसे वीररस के कवि ने भी आचार्यत्व पाने के लिए 'शिवराज भूषण' की रचना की।

देव द्वारा किया गया रस-विवेचन अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और मौलिक है। मतिराम का कवि रूप आचार्य की तुलना में कहीं अधिक प्रबल है। उनके तथा पद्माकर के लक्षण-उदाहरण न केवल सटीक हैं, अपितु सरस भी हैं। श्रृंगारी आचार्यों में भिखारीदास सर्वोच्च स्थान रखते हैं। ध्वनि, रस, अलंकार, गुण-दोष आदि सभी विषयों पर भिखारीदास ने लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। जसवंत सिंह ने "भाषा-भूषण' की रचना कर अपने आचार्यत्व का परिचय दिया। इस प्रकार उन आचार्य कवियों ने रीतिकाल की रसिकता और सरसता के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत किया।

◆◆◆

उत्तर–1. **केशवदास**–भक्तिकाल के अवसान के साथ ही हिंदी साहित्य में रीतिकाव्य की परंपरा की नींव पड़ी। इस काव्यधारा के प्रवर्तक का श्रेय निश्चित रूप से आचार्य केशवदास (1546ई.-1618ई.) को है। यद्यपि इस दिशा में केशव से पूर्व छुटपुट प्रयत्न हुए किंतु उनमें किसी परंपरा के निर्माण हेतु प्रेरणा देने का सामर्थ्य नहीं था।

केशवदास का जन्म 1546 ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम काशीराम या काशीनाथ था। ओरछा नरेश महाराज इंद्रजीत सिंह इनके मुख्य आश्रयदाता थे। वे केशव को अपना गुरु मानते थे। केशव संस्कृत काव्यधारा का सम्यक परिचय कराने वाले हिंदी के प्राचीन आचार्य और कवि हैं। ऐसा माना जाता है कि उनके कुल में भी संस्कृत का ही प्रचार था। अनुमानतः इनकी मृत्यु 1618 ई. में हुई।

केशवदास भक्तिकाल और रीतिकाल के संधिकाल के रचनाकार हैं। इस समय तक कृष्ण-भक्ति साहित्य का स्वरूप रसिक-भक्ति साहित्य के रूप में बदल गया था। इस भक्ति साधना का मूल उद्देश्य लौकिक उन्मुक्तता को शृंगार का आध्यात्मिक रूप देना था। यह प्रवृत्ति केशवदास की रचनाओं में भी देखी जा सकती है। केशव अलंकारवादी आचार्य कवि थे। इसीलिए स्वाभाविक है कि उन्होंने भामह, उद्भट और दंडी जैसे अलंकार संप्रदाय के आचार्यों का अनुसरण किया। उन्होंने अलंकारों के दो भेद माने हैं–साधारण और विशिष्ट। अलंकारों के प्रति विशेष रुचि होने के कारण उनका काव्यपक्ष कुछ दब गया है और सामान्यतः ये सहृदय कवि नहीं माने गए।

केशवदास रचित प्रामाणिक ग्रंथ नौ हैं–रसिकप्रिया, कविप्रिया, नखशिख, छंदमाला, रामचंद्रिका, बीरसिंह-देव-चरित, रतनबावनी, विज्ञानगीता और जहाँगीर जसचंद्रिका। इनमें प्रथम चार काव्यशास्त्र से संबंधित हैं। उल्लेखनीय है, 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' में इन्होंने संस्कृत के लक्षण ग्रंथों का अनुवाद किया और उदाहरण के रूप में अपनी कविताएँ दी हैं।

'रसिकप्रिया' में रस, वृत्ति (मन के व्यापार) और काव्यदोषों के लक्षण उदाहरण दिए गए हैं। यह मुख्यतः रस-विवेचन से संबंधित ग्रंथ है, जिसमें प्रमुखतः शृंगार रस का वर्णन है। अन्य रसों का इन्होंने गौण रूप से वर्णन किया है। शृंगार रस निरूपण में नायक-नायिका भेद का ही निरूपण किया गया है।

'कविप्रिया' काव्यशिक्षा संबंधी ग्रंथ है। इसकी रचना उन्होंने अपनी शिष्या प्रवीणराय को शिक्षा देने के लिए रचा था। अतः इसमें कवि-शिक्षा, अलंकार-निरूपण और काव्य के दोषों का वर्णन है। यह कविकल्पलता-वृत्ति और काव्यादर्श पर आधारित है।

'रामचंद्रिका' केशवदास का सर्वाधिक प्रसिद्ध महाकाव्य है। इसकी रचना प्रसन्नराधव, हनुमन्नाटक, कादंबरी आदि कई ग्रंथों से सामग्री ग्रहण करके की गई है। इसमें रामचरित का गान वाल्मीकि की रामायण के आधार पर किया गया है। लेकिन उसमें भक्ति-भावना की अपेक्षा काव्य-चमत्कार के प्रदर्शन की भावना अधिक है। अतः यह कहा जाता है कि 'रामचंद्रिका' का विषय राम-भक्ति है; किंतु केशव कवि पहले थे, भक्त बाद में।

'छंदमाला' छंद-संबंधी ग्रंथ है। यह एक छोटी-सी पुस्तिका है जिसमें साधारण रूप से छंद-संबंधी शिक्षा दी गई है। इस ग्रंथ का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व है।

केशव ने भक्तिकाल के कवियों की तरह धर्माश्रय या लोकाश्रय में रचना नहीं की। उन्हें राज्याश्रय प्राप्त था। अर्थात केशव दरबारी कवि थे। अन्य दरबारी कवियों की भाँति उन्होंने भी अपने आश्रयदाता राजाओं का यशोगान किया है। 'रतनबावनी', 'वीरसिंह-देव-चरित' तथा 'जहाँगीर जस-चंद्रिका' उनकी ऐसी ही रचनाएँ हैं।

'विज्ञानगीता' आध्यात्मिक ग्रंथ है जो संस्कृत नाटक 'प्रबोधचंद्रोदय' के आधार पर रचित काव्य है। इसमें केशव ने वैराग्य से संबंधित भावनाओं को व्यक्त किया है।

केशव की विभिन्न रचनाओं में वर्णित कवियों के इस संक्षिप्त परिचय के आधार पर कह जा सकता है कि केशवदास में काव्य-सृजन की विविध शैलियों की क्षमता थी।

2. **चिंतामणि (1600 ई–1680 ई.)**–केशव के अतिरिक्त चिंतामणि को भी रीतिकाल के प्रवर्तन का श्रेय दिया जाता है क्योंकि उन्हीं के बाद हिंदी में आचार्य कवियों की परंपरा चली। केशव से चिंतामणि के बीच ऐसी परंपरा नहीं मिलती। इसलिए रामचंद्र शुक्ल ने केशव को नहीं, बल्कि चिंतामणि को रीतिकाल का प्रवर्तक माना है। चिंतामणि का जन्म लगभग सन् 1600 ई. तथा मृत्युकाल 1680-85 ई. के आसपास ठहरता है। ये शाहजी भोंसले, शाहजहाँ तथा दाराशिकोह के दरबार में रहे। इनके

ग्रंथों की संख्या 9 है। इनमें से केवल ये पाँच ही उपलब्ध हैं—रसविलास, छंदविचार, शृंगारमंजरी, कविकुलकल्पतरु, कृष्णचरित। चिंतामणि का रीतिनिरूपण स्पष्ट एवं बोधगम्य है। उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुकरण किया तथा साफ-सुथरी भाषा में काव्य लक्षणों का निरूपण किया।

3. पद्माकर (1753 ई.-1833 ई.)—पद्माकर का नाम उन गिने-चुने रीतिसिद्ध कवियों में शामिल है जिन्होंने कवित्व तथा आचार्यत्व दोनों का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। इनका जन्म सन् 1753 ई. में मध्यप्रदेश के सागर में तथा निधन 1833 में कानपुर में हुआ। ये राजा तथा रईसों के आश्रय में रहे। इनके प्रमुख आश्रयदाता जयपुर के राजा जगत सिंह हैं। इनके द्वारा रचित 7 मौलिक ग्रंथ मिलते हैं। उनमें से पद्माभरण, जगद्विनोद, गंगा लहरी, प्रतापसिंह बिरुदावली, हितोपदेश भाषा प्रमुख हैं। इनके रीतिग्रंथों की विशेषता यह है कि उनमें विवेचित लक्षण सुबोध और स्पष्ट है। उदाहरण भी सरस हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिए कहीं-कहीं ब्रजभाषा गद्य का भी सहारा लिया गया है।

इन पर पहले के आचार्यों की छाप बहुत ज्यादा दिखाई देती है। पद्माकर की कविताओं में भक्ति, शृंगार तथा राज-प्रशस्ति तीनों का सफलतापूर्वक निर्वाह मिलता है। इनकी बिंब-योजना रमणीय और भावानुकूल है। कविता में अनुप्रास युक्त शब्दों के प्रयोग द्वारा आकर्षण पैदा करने में पद्माकर अद्वितीय हैं। जैसे -

गोकुल के, कुल के, गली के, गोप गाँवन के,
जौ लगि कुछ को कुछ भाखत भनै नही ॥
कहै पद्माकर परोस पिछवारन के,
द्वारन के दौरे गुन औगुन गनै नहीं ॥

4. मतिराम (1617 ई.–1736 ई.)—रीतिबद्ध कवि मतिराम का जन्म सन् 1617 ई. में जिला फतेहपुर (उत्तर प्रदेश) के बनपुर नामक स्थान पर हुआ। ये सम्राट जहाँगीर, बूंदी नरेश और बुंदेलखंड के श्रीनगर नरेश के आश्रय में रहे। जहाँगीर के आश्रय में रहते समय इन्होंने 'फूलमंजरी' की रचना की थी। इन्हें गंभीर छंद विवेचन के लिए विशेष ख्याति प्राप्त है। वैसे ये मुख्यतः शृंगार निरूपक आचार्य माने जाते हैं। मिश्र बंधुओं ने इनको हिंदी नवरत्न में स्थान दिया है। मतिराम की कविताओं में आचार्यत्व, भाव सौंदर्य एवं सरल भाषा का सुंदर समन्वय देखते ही बनता है। इनके प्रसिद्ध ग्रंथों में रसराज, ललितललाम, फूलमंजरी और वृत्तकौमुदी शामिल हैं। कवित्त और सवैया इनके प्रिय छंद हैं। उदाहरण देखें -

दोऊ आनंद सो आँगन माँझ विराजै असाढ़ की साँझ सुही।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकी॥
आई उनै मुँह में हँसी, कोहि तिया पुनि चाप-सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन तें गिरे आसुँन के बूंद, सुहास गये उड़ि हंस की नाई॥

5. देव (1673 ई-1768 ई.)—रीतिकाल के अत्यंत यशस्वी रीतिबद्ध कवि देव का जन्म उत्तर प्रदेश के इटावा में सन् 1673ई. में हुआ। ये अपने जीवनकाल में औरंगजेब के तृतीय पुत्र आजमशाह, भवानी वैद्य, कुशल सिंह, उद्योत सिंह आदि के आश्रय में रहे। काव्य ग्रंथों की संख्या की दृष्टि से देव का नाम रीतिकालीन आचार्य कवियों में सर्वोपरि है। इन्होंने 72 ग्रंथों की रचना की जिनमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 25 रचनाएँ प्रामाणिक मानी हैं। भाव-विलास, प्रेम चंद्रिका, भवानी विलास, प्रेम तरंग, जाति विलास, रस विलास, सुजान विनोद, राग रत्नाकर, प्रेम पचीसी, सुख सागर तरंग आदि इनकी कृतियाँ हैं।

देव सर्वांगीण आचार्य हैं। इन्होंने 'भावविलास' में काव्य के विविध अंगों पर प्रकाश डाला है। इसमें छह प्रकार के भावों और चौंतीस प्रकार के संचारी भावों का उल्लेख है। 'जाति-विलास' में भारत की विभिन्न जातियों की स्त्रियों का शृंगारिक वर्णन है। शृंगार-रस निरूपण में इन्हें विशेष सफलता मिली। उदाहरण देखें—

माखन सो तन, दूध सों जोबन, है दधि ते अधि के उर ईठी।
जा छबि आगे छपाकर छाछ, समेत सुधा वसुधा सव सीठी ॥
नैनन नेह चुबै कहि देव बुझावत बैन वियोग अंगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहै, अहो क्यों न लगै मनमोहन मीठी ॥

6. भिखारीदास (1725 ई.-1760 ई.)—देव की भाँति ही भिखारीदास भी संयोग निरूपक आचार्य कवि हैं। उत्तर प्रदेश के जिला प्रतापगढ़ के ड्योंगा नामक गाँव में इनका जन्म हुआ। इनका कविता काल सन् 1725 से 1760 ई. तक माना जाता है। इनके रचे 7 ग्रंथ—रस सारांश, काव्य निर्णय, शृंगार निर्णय, छंदोर्णव पिंगल, शब्दनाम कोश, विष्णुपुराण भाषा और शतरंजशतिका मिलते हैं। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के रीतिनिरूपक ग्रंथों को आधार बनाते हुए भी इन्होंने छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष

शब्द शक्ति आदि विषयों का अधिक विस्तार से और मौलिक प्रतिपादन किया है। अपने ग्रंथों में विभिन्न प्रकार के काव्य दोषों की चर्चा करते समय हिंदी कवियों की रचनाओं का उदाहरण देना तथा 71 अलंकारों का 12 मूल अलंकारों के आधार पर वर्गीकरण करना, इनकी मौलिक देन है। साहित्यिक और परिमार्जित भाषा, सीधी-सरल बिंब योजना, संस्कृत के तत्सम-तद्भव शब्दों के अतिरिक्त फारसी-अरबी शब्दों का निःसंकोच प्रयोग और भावों की सहजता ने इनके कवित्व को उच्च कोटि तक पहुँचाया है। रीतिकाल के राधा-कृष्ण के बारे में भिखारीदास की यह उक्ति सर्वविदित है—

आगे के सुकवि रीझि हैं तौ कविताई, न तो राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

◆◆◆

6. रीतिबद्ध काव्य की विशेषताएँ बताइए।

अथवा

रीतिबद्ध काव्य की प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–रीतिबद्ध काव्य की विशेषताएँ / प्रवृत्तियाँ– रीतिबद्ध काव्य की प्रमुख काव्य विशेषताएँ/प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं–

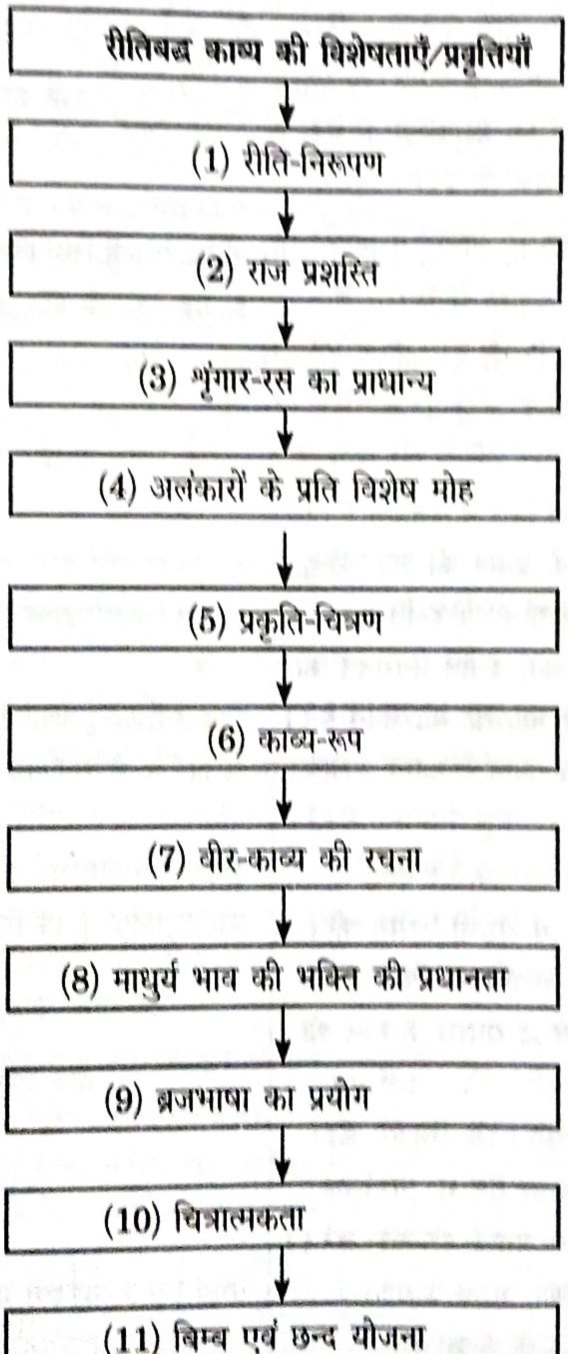

1. रीति-निरूपण–रीतिबद्ध कवियों व आचार्यों ने अपने काव्य में रीति का निरूपण किया है। [illegible] चिंतामणि, कुलपति, देव आदि न केवल कवि थे, बल्कि आचार्य भी थे। परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि इन आचार्यों ने रीति-ग्रन्थों या लक्षण-काव्य की रचना अपने मौलिक चिंतन को प्रस्तुत करने के लिए नहीं की, बल्कि वे तो इनके द्वारा अपने काव्यशास्त्रीय ज्ञान या पांडित्य का प्रदर्शन करना चाहते थे। फलतः उन्होंने अपने रीति ग्रन्थों में काव्य के मुख्य-मुख्य तत्त्वों पर ही लेखनी चलाई है। रस, नायिका-भेद तथा अलंकार व छन्द-इन्हीं तत्त्वों का अधिकांश रीतिकालीन आचार्यों ने विवेचन किया है। उदाहरण के लिए, चिंतामणि ने 'रस विलास' में रस का विवेचन किया है, कुलपति मिश्र ने 'रस रहस्य' में काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-भेद, अलंकार आदि का विवेचन किया है।

परन्तु इन रीतिबद्ध कवियों ने अपने लक्षण-ग्रन्थों की रचना करते समय भानुदत्त कृत 'रसमंजरी', 'रसत रंगिणी' के अतिरिक्त 'काव्य प्रकाश', 'साहित्य दर्पण', 'काव्यालंकार' आदि से पर्याप्त सहायता ली है। इन आचार्यों ने अपने इन लक्षण-ग्रन्थों की रचना इसलिए भी की थी ताकि वे अपने आश्रयदाता व अन्य धनाढ्यों को काव्यशास्त्र की शिक्षा दे सकें। अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रीतिबद्ध काव्य में अत्यधिक लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इन लक्षण-ग्रन्थों में गम्भीर चिंतन व मौलिकता का अभाव है। ये लक्षण-ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्रों के अनुरूप ही रचे गए हैं।

2. राज प्रशस्ति–अधिकांश रीतिबद्ध कवि बादशाहों, जागीरदारों, सामंतों के दरबारों में आश्रित थे। फलतः उन्होंने अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए ही अधिकांश काव्य रचना की। कुछ एक रीतिबद्ध कवियों ने तो अपने राजा की प्रशंसा करने व उसके नाम को अमर करने के लिए अपनी रचना का नामकरण ही राजा के नाम पर कर दिया। उदाहरण के लिए–'भवानी विलास', 'जगद् विनोद', 'सुजान विनोद' आदि रचनाओं के नाम में भवानी सिंह, सुजान सिंह आदि राजाओं के नाम को आधार बनाया गया है।

इन कवियों ने अपने शासक की वीरता, साहस, पराक्रम, शौर्य आदि का अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की है। उदाहरण के लिए, मतिराम अपने आश्रयदाता भाव सिंह की प्रशंसा में लिखते हैं–

सूबनें को मेटि दिल्ली देस दलिबे को चूम,
सुभट समूह निसि वाको उमहति है।
कहै मतिराम ताहि रोकिबे को संगर में,
काहू के हिम्मत हिए में उलहित है।।
सत्रुसाल नंद के प्रताप की लपट सब,
जरब गनीम बरगीन को दहति है।
पति पातसाह की, इजति उमरावन की,
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है।।

इसी प्रकार वीर-रस के प्रमुख कवि गंजन ने अपने आश्रयदाता व दिल्ली के बादशाह के वजीर कमरुद्दीन खाँ की इस प्रकार प्रशंसा की है–

मीना ने महल जरवाफ दर परदा है,
हलवी फनूसन में रोसनी चिराग की।
गुलगुली गिलास गरकआव पग होत,
जहाँ बिछी मसनद लालन के दाम की।।
केती महताबमुखी खचित जवाहिरन,
गंजन सुकवि कहै बौरी अनुराग की।
एतमाद्दौला कमरुद्दीन खाँ मजलिस,
सिसिर में ग्रीष्म बनाई बड़ भाग की।।

3. शृंगार-रस का प्राधान्य–रीतिकाल के अन्य कवियों की भाँति रीतिबद्ध कवियों का मन भी शृंगार वर्णन में खूब रमा। वस्तुतः वे शृंगार-रस के निपुण कवि थे। उन्होंने इस रस के आधार पर अनेक लक्षण-ग्रन्थ भी लिखे। अपनी शृंगारपरक रचनाओं

के द्वारा वे अपने भोगी, विलासी व काम-लालुप आश्रयदाता को प्रसन्न रखना चाहते थे। ऐसा करना सम्भवतः उनकी विवशता भी थी क्योंकि उन्हें इन्हीं शासकों, सामन्तों से धन प्राप्त होता था। परन्तु इन कवियों ने अपनी शृंगारिक चेतना को राधा व कृष्ण के माध्यम से प्रस्तुत किया ताकि उन पर अश्लीलता का दोष न लग सके। इस संबंध में भिखारीदास ने स्पष्ट कहा है–

आगे के कवि रीझि हैं तो कविताइ है,
न तो राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

रीतिबद्ध काव्य में शृंगार के दोनों पक्षों–संयोग व विप्रलम्भ का स्पष्ट चित्रण हुआ है। विशेषकर संयोग शृंगार का अधिक मात्रा में वर्णन हुआ है तथा इसमें नारी के शारीरिक सौन्दर्य व अंग-अंग में समाए यौवन का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए, निम्न पंक्तियों में नारी के अंग-प्रत्यांगों की सुन्दरता का वर्णन देखिए–

सेत वसन में यों लगे उधरत गोरे गात,
उड़े आग ऊपर लगी ज्यों विभूति अवदात।

इसी प्रकार कवि देव ने कश्मीर की किशोरी युवती के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखा है–

जोवन से रंग भरी, ईगुर से अंगनि पै
ऐड़िन लौ आँगी छाजै छविन की भीर की।
उचके उचौहैं कुच, झपे झलकत झीनी,
झिलमिली ओढ़नी किनारीदार चीर की।
गुलगुले गोरे गोल कोमल कपोल,
सुधाबिन्दु बोल, इन्दुमुखी, नासिका ज्यों कीर की।
देव दुति लहराति, छूटे छहरात केस,
बोरी जैसे केसरि, किसोरी कसमीर की।।

इन कवियों ने नायक-नायिका के संयोगावस्था के भी चित्र अंकित किए हैं। निम्न पंक्तियों में कवि ने नायक-नायिका के अंग, मन, वस्त्र, चेष्टा आदि के साथ-साथ दोनों के हास-विलास, मादक-क्रीड़ा का भी चित्रण किया है–

सहर सहर सोंधो सीतल समीर डोलै,
घहर घहर धन घेरि कै घहरिया।
झहर झहर झुकि झीनी झरि लायौ देव,
छहर छहर छोटी बूँदन छहरिया।
हहर हहर हँसि हँसि के हिंडोर चढ़ी,
थहर थहर तनु कोमल थहरिया।
फहर फहर होत पीतम को पीत पट,
लहर लहर होत प्यारी को लहरिया।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि रीतिबद्ध कवियों ने संयोग शृंगार-वर्णन में ही अधिक रुचि ली है परन्तु उनके काव्य में वियोगावस्था के भी अनेक चित्र अंकित हुए हैं। इस काव्य में विरह के चारों भेदों व दसों दशाओं के अनुरूप ही विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन हुआ है। उदाहरण के लिए, कवि देव ने विरहावस्था में शैय्या पर तड़पती नायिका की मरणासन्न अवस्था का पूरी गम्भीरता व स्वाभाविकता के साथ चित्रण किया है–

साँस ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो हरि
तेज गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तन की तनुता कर
जवि रहयो मिलिबेई की आस, कि आस हु पास अकास रहयो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि, हरे हँसि हियो जु लियों हरि जू हरि।।

4. अलंकारों के प्रति विशेष मोह–रीतिबद्ध कवियों में अलंकारों का अत्यधिक प्रयोग करने की भी प्रवृत्ति पाई जाती है। रीतिकाल के कवियों की 'अलंकृत भाषा' को देखकर ही मिश्र बन्धुओं ने इस काल को **'अलंकृत काल'** कहा था। अनेक रीतिबद्ध कवियों, यथा–मतिराम, जसवन्त सिंह, भूषण आदि ने अलंकारों के आधार पर ही लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण किया।

इसके अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी अपनी रचनाओं में प्रयुक्त ब्रजभाषा को अनेक अलंकारों से सुसज्जित किया जिसके कारण कहीं-कहीं उनका काव्य शब्दाडम्बर से परिपूर्ण दिखाई देने लगता है। अलंकारों के अधिक प्रयोग के कारण उनका अनुभूति पक्ष दब-सा गया है। अपने कथन को उक्ति-वैचित्र्य से युक्त करने के लिए उन्होंने यमक, श्लेष जैसे अलंकारों का अत्यधिक प्रयोग किया। यथा–

यमक– देव गुन अगरी उसासैं भरै अगरी दबाये दंतु अँगुरी अचल अंग अंगरी।
लंक लग बगरी, कलंक लग बगरी सखीन संग बगरी सखी न संग बगरी।

श्लेष– मुसकाई के गाई के गार दुही।

इसी प्रकार इस काव्य में प्रयुक्त अर्थालंकारों में समासोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, विभावना, दीपक, व्याजस्तुति, मानवीकरण आदि प्रमुख हैं। यहाँ पर कुछ-एक अलंकारों के उदाहरण दिए जा रहे हैं–

अतिशयोक्ति–

यह कैधों कलाधर ही की कला, अबला किंधे इन्द्र की कैधों सची
किंधो मेन केभौन की दीप-सिखा, सखीऔन दे भाग हवै भाल खची
तिहूँ लोक की सुनदरताई की एक, अनुपम रूप की रासि मची।
नर, किन्नर, सिद्ध, सुरासुर हून की वंचि वधूनि विरंचि रची।।

मालोपमा–

इंद्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज है।।
पौन बारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विराज है।।
दावा द्रुमदंड पर, चीता मृगझुंड पर,
भूषण बितुँड पर जैसे मृगराज है।।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है।।

यमक– **(क) जगर-मगर आपु आवति दिवारी-सी**
(ख) गोरी को गौत प्रभात ज्यों पूनों

रूपक– **(क) मन्दहास चंद्रिका कौ मन्दिर बदन चन्द**
(ख) दीपसखा वृज मंदिर सुन्दरि जागत जोति चहूँ जुग जानि।

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रीतिबद्ध काव्य में अलंकारों का अधिक प्रयोग हुआ है। उनकी कविता में प्रयुक्त लावण्यमयी ब्रजभाषा रूपी कामिनी अलंकारों के अत्यधिक बोझ से इतनी बोझिल हो गई है कि कभी-कभी (कहीं-कहीं) वह दबी हुई, झुकी हुई प्रतीत होती है और इस प्रकार उसके सौन्दर्य में कमियों को उजागर करती है।

5. प्रकृति-चित्रण–रीतिबद्ध कवियों को वैसे तो दरबारी संस्कृति से बाहर झाँकने का समय ही न था, परन्तु भारतीय साहित्य में प्रकृति-चित्रण एक अनिवार्य अंग बन चुका है, इसीलिए इन कवियों ने भी अपने काव्य में प्रकृति का चित्रण करना पड़ा है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना उचित प्रतीत होता है कि रीतिकाल में प्रकृति का वैसा विस्तृत चित्रण नहीं हुआ जैसा कि आदिकाल या भक्तिकाल में हुआ था। रीतिबद्ध काव्य में प्रकृति मुख्यतः तीन रूपों–आलम्बन रूप, उद्दीपन रूप तथा अलंकार-योजना रूप में चित्रित हुई। अपवाद-स्वरूप इस काव्य में प्रकृति का कुछ अन्य रूपों में भी चित्रण हुआ है। उदाहरण के लिए, कवि देव ने वर्षा ऋतु का इस प्रकार चित्रण किया है–

सुनि के धुनि चातक मोरनि की, चहूँ ओरनि कोकिल कूकनि सों
अनुराग भरे हरि बागन में, सखि रागत राग अचूकनि सों।
कवि देव घटा उनई जु नई, वन-भूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती हरी हहराती लता, झुक जाती समीर की झूकनि सों।।

इसी प्रकार कवि मतिराम ने दर्शाया है कि वसन्त ऋतु में नायिका अपने प्रियतम को विदेश नहीं भेजना चाहती। उसके प्रवास का समाचार सुनकर ही कमल के फूल उसे विरहाग्नि से जलाने लगते हैं–

मलय समीर लगो चलन सुगन्ध सीरो, पथिकन कीने परदेसन तें आवने।
मतिराम सुकवि समूहनि सुमन फूले, कोकिल मधुप लाग बोलन सुहावने।
आयो है बसन्त भए पल्लवित जल जात, तुम लागे चलिबे की चरसा चलावने।
राबरी तिया को तरवर सरवरू के किसले कमाल ह्वै हैं बाटक बिछावने।।

6. काव्य-रूप–रीतिबद्ध कवियों ने अधिकांशतः मुक्तक-काव्य की रचना की है। इस काल में काव्य के तीन रूपों–लक्षण-ग्रन्थ अथवा काव्यशास्त्र, प्रबन्ध काव्य व मुक्तक काव्य का ही अधिक निर्माण हुआ। इस काल के काव्यशास्त्र अथवा लक्षण-ग्रन्थों में कवियों ने लक्षण व उनके उदाहरणों को प्रस्तुत किया है। इस काल के कुछ कवियों ने प्रबन्ध-काव्य की रचना करने का भी प्रयास किया जिनमें सोमनाथ (सुजान विलास), पद्माकर (हिम्मत विरुदावली व प्रतापसिंह विरुदावली) आदि का नाम लिया जा सकता है। इस काल के मुक्तक काव्यों में मतिराम सतसई, सुधानिधि, नैनपचासा, शिवा बावनी, वृत्त कौमुदी आदि समेत सैकड़ों रचनाओं का नाम लिया जा सकता है। डॉ. नगेन्द्र समेत अनेक विद्वानों ने रीतिबद्ध कवियों के लक्षण-ग्रन्थों को भी मुक्तक काव्य की श्रेणी में रखा है।

7. वीर-काव्य की रचना–रीतिबद्ध काव्य में भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर आदि कवियों ने वीर-रस से ओतप्रोत काव्य की भी रचना की। इन कवियों की रचनाओं को पद्धति के आधार पर पाँच वर्गों में बाँटा जा सकता है–शुद्ध वीर-काव्य, शृंगार मिश्रित वीर-काव्य, भक्ति मिश्रित वीर-काव्य, अनूदित वीर-काव्य तथा प्रकीर्ण वीर-काव्य। इनमें से कवि भूषण का उपलब्ध काव्य ही शुद्ध वीर-काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। उन्होंने अपने काव्य में वीर-काव्य के अनुरूप वीरता के चारों भेदों–दानवीरता, धर्मवीरता, युद्धवीरता तथा राजनीतिक वीरता के आधार पर अपने आश्रयदाताओं शिवाजी व छत्रसाल की वीरता का वर्णन किया है। यहाँ पर शिवाजी की धर्मवीरता का उदाहरण देखिए–

वेद राखे विदित पुरान परसिद्ध राखे,
राम नाम राख्यौ अति रसना सुधर मैं।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे मैं जनेऊ राख्यो माला राखी गर मैं।।
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर मैं।
राजन की हद राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखें देवल स्वधर्म राख्यो घर मैं।।

इस काव्य परम्परा के प्रमुख वीर-काव्यों में 'रतन बावनी', 'शिवराज भूषण', 'शिवा बावनी', 'छत्रसाल दशक', 'राजविलास', 'वीर सतसई', 'सुजान चरित्र' आदि का नाम लिया जा सकता है।

8. माधुर्य भाव की भक्ति की प्रधानता–भक्तिकाल में सूरदास ने राधा-कृष्ण की लीलाओं के जिन पदों की रचना की है, अनेक विद्वानों ने उनमें माधुर्य भाव की भक्ति देखी है। परन्तु उन्हें रीतिकालीन कवियों के वैसे ही या उनसे थोड़े अधिक शृंगारिक पदों में अश्लीलता दिखाई देती है। इसका कारण यही है कि रीतिकालीन कवियों का पूरा झुकाव शृंगारिकता की ओर था। उन्होंने राधा-कृष्ण की ओट में अपनी कामुकता को प्रकट किया है। फिर भी कतिपय रीतिबद्ध कवियों की रचनाओं में हमें एक सच्चे भक्त की माधुर्य-भक्ति के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए तोष की निम्न पंक्तियों को देखिए–

श्री हरि की छवि देखिबे को अँखियाँ प्रति रोमहि में करि देतो
बैनन को सुनिबे हित स्रौन जितै तित सो करती करि हेतो।।
मो ढिग छाँडि न काम कहूँ रहै तोष लिखितो बिधि एता।।
तौ करतार इती करनी करिकै कलि में कल कीरति लेतो।।

4

हिन्दी साहित्य : आधुनिक काल

(क) मध्यकालीन बोध तथा आधुनिक बोध (संक्रमण की परिस्थितियाँ)

1. हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल के संदर्भ में मध्यकालीन बोध तथा आधुनिक बोध को स्पष्ट कीजिए।

अथवा

1857 के स्वाधीनता संघर्ष के संदर्भ में हिन्दी नवजागरण पर विचार कीजिए।

अथवा

भारतेन्दु युगीन नवजागरण चेतना की समीक्षा कीजिए।

उत्तर–आधुनिकता का उदय–हिंदी साहित्य के आधुनिक काल का आरंभ भारतीय जीवन में आधुनिकता के प्रवेश के साथ जुड़ा हुआ है। मध्यकालीन जीवन धर्म पर केंद्रित था, उससे आगे बढ़कर जब जीवन की मुख्य प्रेरणा का स्थान विज्ञान और तर्क को मिला, तो हमारे समाज में आधुनिकता का उदय हुआ। धर्म का संबंध मध्यकाल में मनुष्य की पारलौकिक आकांक्षाओं से था। आधुनिक काल में पूँजीवादी समाज व्यवस्था की भौतिकता ने उसे हटाकर अपने लिए जगह बनाई। इसे देखते हुए नवजागरण के नेताओं ने भौतिकता को भी धर्म की नई व्याख्या का आधार बनाया।

भारतीय इतिहास में आधुनिक काल का आरंभ अंग्रेजी राज की स्थापना से होता है। अंग्रेजों ने यहाँ नई अर्थव्यवस्था, उद्योग धंधों, रेल, तार तथा प्रेस की स्थापना अपने स्वार्थों के लिए की, लेकिन इससे भारत को आधुनिक युग में प्रवेश करने में सुविधा हुई। इस काल में देश को मध्यकालीन रूढ़िवाद से मुक्त करने में राजा राममोहन राय और स्वामी दयानंद सरस्वती जैसे महापुरुषों ने विवेक का सहारा लिया। इन्होंने ही उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण का नेतृत्व किया। इनके प्रभाव में भारतीय समाज ने अपनी कई सड़ी-गली परंपराओं (जैसे–सती प्रथा) से मुक्ति प्राप्त की। वर्णाश्रम व्यवस्था, छुआछूत आदि का विरोध तथा सामाजिक जीवन में स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे आदि का समर्थन इस बात का प्रमाण है कि भारतीय नवजागरण नवीन मानवतावाद पर आधारित था। यहाँ यह भी समझ लेना जरूरी है कि हिंदी के भक्ति काव्य में भी मानवता पर ज़ोर था लेकिन वह मानवतावाद ईश्वरवाद से जुड़ा हुआ है। मध्यकाल के भक्तकवियों ने हिंदू और मुसलमान के भेद पर यह कहकर प्रहार किया कि वे सभी ईश्वर की संतान हैं। उन्होंने कर्मकांड का विरोध किया क्योंकि वह ईश्वर तक पहुंचने में बाधक था। पर आधुनिक काल में मनुष्य और मनुष्य की समता और स्वतंत्रता को सामाजिक न्याय के आधार पर स्थापित किया गया है। मनुष्य और मनुष्यता की सर्वोपरिता ही इस आधुनिक युगीन नवजागरण की मूल चेतना है।

भारत के स्वतंत्रता आंदोलन और नवजागरण बोध की जड़ में हर स्तर पर समन्वय और एकता की भावना निहित थी। इसी ने उस राष्ट्रीय चेतना को जगाया जिसके ज़ोर पर भारतीय लोगों ने अपने देश से विदेशियों को भगा दिया। इस पूरी अवधि में राजनैतिक आंदोलन के साथ-साथ समाज सुधार और धार्मिक व सांस्कृतिक जागरण की धारा पूरे वेग के साथ प्रवाहित होती रही। यही नहीं, स्वतन्त्रता आंदोलन के अगुवाओं में राजनैतिक और धार्मिक व्यक्तियों के साथ साहित्यिक व्यक्ति भी सक्रिय थे। इन साहित्यकारों ने अपने साहित्य में स्वतन्त्रता आंदोलन से पैदा हुई राष्ट्रीय चेतना को केंद्र में रखा। आगे जब हम भारतेंदु युग,

द्विवेदी युग, छायावाद और छायावादोत्तर युगों के अलग-अलग विधाओं के साहित्य का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि आधुनिक काल का यह पूरा खंड उस राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित है जिसका निर्माण नवजागरण आंदोलन ने किया था। इस राष्ट्रीय चेतना को गठित और समेकित करने में भारतीयों की मुक्तिकामना के साथ-साथ विदेशी सत्ता की फूट डालकर राज करने की नीति की समझ का भी बड़ा हाथ है। यह कहना गलत न होगा कि अंग्रेजों ने भारत के दो प्रमुख समुदायों—हिन्दू और मुसलमान की एकता को भंग करने के लिए जो चालें चली थीं और दोनों के सांस्कृतिक स्वाभिमान को चोट पहुंचाने के लिए जो साजिशें की थीं, प्रथम स्वाधीनता संग्राम बड़ी हद तक उनकी प्रतिक्रिया का परिणाम भी था। यह कहना गलत न होगा कि राष्ट्रीय आन्दोलन ने जिन महापुरुषों को चरित नायकों के रूप में देश की जनता के सामने रखा, वे आज भी राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक गौरव के प्रेरणापुंज हैं।

परिवर्तन का सूत्रपात—आधुनिकता और नवजागरण की इस दिशा में भारतीय समाज को प्रेरित करने में नई शिक्षा का बड़ा हाथ रहा। नवजागरण के प्रवर्तक राजा राममोहन राय पुरानी शिक्षा-प्रणाली के खिलाफ थे। वे भारत में नए ढंग की शिक्षा प्रणाली चाहते थे। वे मानते थे कि पुराने ढंग की पढ़ाई जारी रही तो देश में किसी प्रकार का समाज सुधार हो ही नहीं सकता। वास्तव में नई शिक्षा-प्रणाली ने आधुनिक ढंग से सोचने का वातावरण प्रदान किया। ईसाई मिशनरियों, कोलकता के फोर्ट विलियम कॉलेज तथा ईस्ट इंडिया कंपनी के मैकाले जैसे अधिकारियों के प्रयास से भारत में धीरे-धीरे अंग्रेजी भाषा के माध्यम से नए ढंग की शिक्षा का प्रसार हुआ। 1844 ई. में लॉर्ड हार्डिन की वह महत्वपूर्ण योजना प्रकाशित हुई जिसके अनुसार सरकारी नौकरियों के योग्य वे ही समझे जाने लगे जिन्हें अंग्रेजी शिक्षा मिली। इस अनिवार्यता का परिणाम यह हुआ कि भारत का युवा वर्ग शेष दुनिया की ज्ञान-विज्ञान की प्रगति से परिचित हुआ तथा गुलामी से मुक्ति के लिए छटपटाने लगा। यह कहना गलत न होगा कि वर्तमान भारत का जन्म ही अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के कारण हुआ। समाज और देश के प्रति जो नवीन चेतना जागी, इसके भीतर से हमारी सारी राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक क्रांतियों का जन्म हुआ। सामाजिक चेतना ही वह गुण है जो आज के औसत भारतवासी को प्राचीन अथवा मध्ययुगीन भारतवासी से अलग करता है और यह चेतना भारत को यूरोपीय संपर्क से मिली है। इसी ने आगे चलकर राष्ट्रीय चेतना का रूप लिया। यह राष्ट्रीय चेतना ही स्वाधीनता आंदोलन का आधार बनी।

नवजागरण आंदोलन की जड़ में यह मौलिक सच्चाई निहित है कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भारतीय जनमानस में मनुष्य की अवधारणा में कुछ बुनियादी बदलाव पैदा हुए। प्राचीन काल से चली आ रही मनुष्य की अवधारणा का निर्माण लोक और वेद के परस्पर मिलाप से हुआ था। इस अवधारणा में मोटे तौर पर मनुष्य ईश्वर और भाग्य के द्वारा नियंत्रित माना जाता था। इस मान्यता ने परलोक और पुनर्जन्म की कल्पनाओं को जन्म दिया और मनुष्य को कर्म करने की स्वतंत्रता के बावजूद प्रारब्ध का गुलाम बना दिया। परिणाम यह हुआ कि जीवन की दैनिक जरूरतों की तुलना में अगले जन्म को ज्यादा महत्व मिल गया। इससे भारतीय मानस में एक खास तरह की उदासीनता पैदा हुई। दूसरी ओर समाज में ऐसे सत्ता केंद्रों का विकास हुआ जिन्हें ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। राजा हो या पिता अथवा पति या कि गुरु, सब भगवान बन बैठे। इन भगवानों के पैरों तले साधारण मनुष्य की अस्मिता कुचली जाने लगी। समाज में ऐसी अनेक रूढ़ियों ने जड़ जमा ली जिनकी कीमत सड़ी-गली परंपराओं से अधिक कुछ नहीं थी। सती प्रथा से लेकर अस्पृश्यता तक तथा मूर्ति पूजा से लेकर बलि प्रथा तक—इन सड़ी-गली परंपराओं ने भारत की प्रगति में हर प्रकार की बाधाएँ पैदा की। परिणाम यह हुआ कि कभी ज्ञान-संपदा में विश्वगुरु और धन-संपदा में सोने की चिड़िया रह चुका भारत एक के बाद एक गुलामी की जंजीरों में जकड़ता गया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में राजा राममोहन राय जैसे अनेक विचारकों ने भारतीय संस्कृति की इस विडंबना को निकट से देखा और समझा। इस समझ ने उन्हें जड़ता में जकड़ी पड़ी भारतीय जनता को जगाने और अपनी खुद की बेड़ियों से मुक्त करने की चेतना प्रदान की। यही परिवर्तन चेतना अथवा आधुनिक चेतना नवजागरण आंदोलन का आधार बनी। यदि राष्ट्रीयता की दृष्टि से इसका प्रतिफलन 1857 की क्रांति के रूप में हुआ, तो हिंदी साहित्य में इसने भारतेंदु युग को अवतरित करने का काम किया। अखिल भारतीय स्तर पर जो जागृति कोलकता जैसे केंद्रों से उभर रही थी, हिंदी में भारतेंदु हरिश्चंद्र उसके पुरोधा हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मनुष्य की अवधारणा बदलने की यह घटना भारत के समाज और हिंदी साहित्य में उन्नीसवीं शताब्दी में ही पहली बार घटित नहीं हुई। पहले भी बहुत बार मनुष्य और परम तत्व के संबंध को पारिभाषित करते हुए ऐसे बदलाव के मोड़ आए हैं। अगर उपनिषद काल या उसके बाद के इतिहास को छोड़ भी दें तो भी चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी के भक्ति आंदोलन को भला कैसे भुलाया जा सकता है! जैसा कि डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं कि "आदि काल के प्रसंग में हमने परिलक्षित किया था कि यहाँ मनुष्य का ईश्वर की महिमा से युक्त रूप में वर्णन हुआ है, जबकि भक्ति काल में यह चित्रण ईश्वर

का मनुष्य के रूप में हुआ है। आगे फिर रीतिकाल में ईश्वर और मनुष्य दोनों का मनुष्य-रूप में चित्रण होता है। आधुनिक काल में आकर मनुष्य सारे चिंतन का केंद्र बनता है और ईश्वर की धारणा व्यक्तिगत आस्था के रूप में स्वीकृत होती है, साहित्य या कलाओं में उसका चित्रण प्रासंगिक नहीं रह जाता। इसी का परिणाम यह देखा जा सकता है कि प्रेम और भक्ति, लौकिक और अलौकिक संबंध, जो अभी तक या तो अलग-अलग अनुभव थे या कभी-कभी एक दूसरे का संस्पर्श करते थे, अब उनका अंतर आधुनिक काल में आकार विलीन हो गया है।" (हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. 78-79) यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि मनुष्य की अवधारणा में परिवर्तन होने की प्रक्रिया क्या है। वर्तमान संदर्भ में इसका संबंध आधुनिक युग की उस मानसिकता से है जिसे इतिहास और संस्कृति के हलकों में पुनर्जागरण या नवजागरण कहा जाता है। ऐसे मोड़ प्रायः सभी देशों के इतिहास में आते हैं जिन्हें पुनर्जागरण या नवजागरण की सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। वर्तमान भारत के संदर्भ में यह नवजागरण उन्नीसवीं शती के मध्य से आरंभ होता है। इसके मूल में नई यूरोपीय वैज्ञानिक संस्कृति और पुरानी भारतीय धार्मिक संस्कृति की टकराहट को देखा जा सकता है। उल्लेखनीय है कि नवजागरण की पहचान जहाँ एक ओर दो जातीय संस्कृतियों की टकराहट से होती है वहीं इसका दूसरा पहलू यह भी है कि नवजागरण 'मनुष्य के संपूर्ण तथा संश्लिष्ट रूप की खोज' और उसकी 'परिष्कार' करने की भी प्रक्रिया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यूरोपीय और भारतीय संस्कृतियों की टकराहट तथा समग्र और संपूर्ण मनुष्य की खोज की प्रेरणा भारतीय नवजागरण चेतना की केंद्रीय शक्तियाँ हैं। इसके एक सिरे पर राजा राममोहन राय हैं तो दूसरे सिरे पर महात्मा गांधी। साथ ही इसे गति प्रदान करने में एक ओर 1857 के प्रथम स्वाधीनता संघर्ष ने तथा दूसरी ओर बीसवीं शताब्दी के अखिल भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन ने निर्णायक भूमिका निभाई।

नवजागरण आंदोलन की एक बड़ी विशेषता इसका समाज केंद्रित और समन्वयमूलक होना है। भारतीय हिंदू विचारधारा और पाश्चात्य ईसाई संगठन का सामंजस्य नवजागरण के अधीनस्थ सभी सामाजिक आंदोलनों का मूल मंत्र है। "राजा राममोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक की यह विचार और कर्म यात्रा है, जिसे बनाने और बढ़ाने में रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, लोकमान्य तिलक, श्री अरविंद जैसे कई मनीषियों का विशिष्ट योगदान रहा है।" (रामस्वरूप चतुर्वेदी)

नवजागरण और प्रथम राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष–भारत के नवजागरण का प्रमुख केंद्र बंगाल रहा। हिंदी भाषी क्षेत्र में इसे फैलाने का श्रेय बड़ी सीमा तक भारतेंदु युग के साहित्य को जाता है। इसीलिए इसे हिंदी नवजागरण भी कहा गया है। यद्यपि 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक ग्रंथ में डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर' ने लिखा है कि वर्तमान भारत का जन्म ही अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की गोद में हुआ है। लेकिन अगर वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से देखा जाए तो कहना होगा कि भारत में स्वाधीनता की भावना यहाँ की अपनी सामाजिक परिस्थितियों से पैदा हुई। रजनी पाम दत्त ने इस प्रसंग में ठीक ही लिखा है कि हमारा स्वाधीनता आंदोलन उन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों से पैदा हुआ, जो ब्रिटिश हुकूमत के हाथों शोषण के कारण भारतीय समाज में उत्पन्न हो गई थीं। संयोगवश इसे नई शिक्षा पद्धति का सहयोग मिल गया। वरना मैकाले ने भारत की सदियों से चली आ रही पुरानी शिक्षा व्यवस्था को नष्ट कर नए ढंग की समाजवादी अंग्रेजी शिक्षा की शुरूआत भारत की जनता में राष्ट्रीय भावना पैदा करने के लिए तो नहीं की थी। रजनी पाम दत्त के शब्दों में, "यह साम्राज्यवाद की पूरी व्यवस्था में निहित अंतर्विरोधों का परिणाम था कि शिक्षा की जो पद्धति साम्राज्यवाद के हितों की रक्षा करने के लिए जारी की गई थी, उसी ने भारत के लोगों के लिए इंग्लैंड के जनवादी जन आंदोलनों और जन संघर्षों से, मिल्टन, शैली तथा बायरन जैसे कवियों से प्रेरणा प्राप्त करने का भी रास्ता खोल दिया।" इसने ब्रिटिश हुकूमत की निरंकुशता से टकराने के जज्बे को हवा जरूर दी। इसीलिए डॉ. रामविलास शर्मा ने भारतेंदु कालीन नवजागरण की व्याख्या करते हुए यह समझाने का प्रयास किया है कि "हिंदुस्तान की राष्ट्रीय चेतना सीधे अंग्रेज़ डाकुओं के कारनामों का विरोध करके बढ़ी। इसलिए हिंदुस्तान की राष्ट्रीय भावनाओं का तमाम नया साहित्य अंग्रेजी राज का विरोधी साहित्य है। अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों ने भारतीय जनता को गुलामी की शिक्षा दी, सरकार ने उसकी प्रतिरोध भावना को कुचलने की कोशिश की। इसके बावजूद जनता के समर्थक लेखक देश की संस्कृति की रक्षा और विकास के लिए आगे बढ़े।"

भारतेंदु कालीन हिंदी नवजागरण सन् 1857 के प्रथम स्वाधीनता संघर्ष की उपज है, न कि केवल अंग्रेजी शिक्षा की। इस हिंदी नवजागरण के मूल तत्व हैं–सामंत विरोध और साम्राज्य विरोध, जन-संस्कृति से लगाव, प्रेम-भक्ति और उदारतावाद, स्वदेश-प्रेम और स्वदेशी आंदोलन, साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का अस्त्र समझकर जन-जीवन से जुड़ा साहित्य-रचना, विज्ञान, शिल्प और उद्योग-धंधों के विकास से देश की प्रगति का स्वप्न, अध्यात्म और रहस्यवाद का विरोध। यह भी ध्यान रखने की बात है कि हिंदी नवजागरण किसी भी प्रकार हिंदू पुनरुत्थानवाद तक सीमित नहीं था। इसीलिए स्वयं भारतेंदु ने आर्य समाज की विज्ञान विरोधी मान्यताओं का खंडन भी किया।

जिस प्रकार भारतीय आंदोलनों ने देशव्यापी राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक आंदोलन का रूप लिया था, उसी प्रकार समग्र देश की चेतना को प्रभावित करने का काम 1857 के प्रथम स्वाधीनता संघर्ष ने किया। इसने भारतवासियों की स्वाधीनता की चेतना को जगाने और उकसाने का काम किया। भारतेंदु युग में राष्ट्रीय भावना अंग्रेजों द्वारा भारत के आर्थिक शोषण के विरोध के रूप में देखी जा सकती है–**"अंग्रेज़ राज सुख साज सजे सब भारी। पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख़्वारी।"** (भारतेंदु हरिश्चंद्र)

दरअसल, उन्नीसवीं शती का भारतीय नवजागरण बड़ी हद तक यूरोप की वैज्ञानिक संस्कृति और पुरानी भारतीय धार्मिक संस्कृति की टकराहट से पैदा हुआ था। नवजागरण के प्रवर्तक राजा राममोहन राय ने अपना चिंतन उपनिषदों से ग्रहण किया, पर उन्होंने हिंदू आराधना शैली की परंपरागत एकांतिक पद्धति को छोड़कर यूरोपीय चर्च का संगठन स्वीकार किया जिसमें पूजन की सामूहिक पद्धति प्रचलित थी। 'ब्रह्म समाज' की स्थापना उन्होंने 1828 में की, जिसकी प्रेरणा से बाद में महाराष्ट्र में 'प्रार्थना समाज' का जन्म हुआ। हिंदी क्षेत्र में स्वामी दयानंद ने 'आर्य समाज' की नींव डाली। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है कि "यह सिर्फ संयोग नहीं है कि इन संस्थाओं के नामकरण के उत्तर-पक्ष में समाज पर विशेष बल दिया गया है। हिंदू समाज को एकांतिक जीवन पद्धति के विरुद्ध उठे समाज के रूप में गठित करने का यह कार्य बड़े सजग रूप में नवजागरण के मनीषियों ने किया।" इन तीनों मुख्य समाजों–ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज में काफी समानता थी। ये निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं, आराधना की सामूहिक शैली पर बल देते हैं, हिंदू समाज के दो पिछड़े समूहों नारी और शूद्र को शेष उच्च वर्गीय समूहों के साथ समानता का दर्जा देते हैं। वेद, उपनिषद और गीता इनके चिंतन के केंद्र में हैं। संगठन का ढाँचा ईसाई चर्च के समान है। भारतीय हिंदू विचारधारा और पाश्चात्य ईसाई संगठन का सामंजस्य–यह इनके आंदोलन का मूलमंत्र है। याद रहे कि अध्यात्म का नवजागरण पहले लोकसेवा से जोड़ता है और फिर लोक सेवा को क्रमशः राष्ट्रीय भावना से। राममोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक की इस विचारधारा और कर्म-यात्रा को बनाने और बढ़ाने में रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, लोकमान्य तिलक और अरविंद जैसे संतों और विचारकों का योगदान रहा है।

हिंदी में आधुनिकता के जनक कहे जाने वाले भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885) जहाँ एक ओर अपने समय की यूरोप या पश्चिम-प्रेरित गतिशीलता से जुड़ना चाहते थे, वहीं दूसरी ओर वे भारतीयता के स्वत्व को किसी कीमत पर खोना नहीं चाहते थे। 'स्वत्व निज भारत गहै' की गुहार लगाने वाले भारतेंदु आलोचनात्मक यथार्थवाद के पहले हिंदी कवि हैं। परंपरा से अविनाशी विश्वनाथ शिव की नगरी 'काशी 'का एक वर्णन भारतेंदु ने 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक की 'नव उज्ज्वल जलधार' 'कविता में किया है। उनकी 'प्रेम जोगिनी' (1894) नाटिका में भी काशी को लेकर एक कविता है, जो हिंदी नवजागरण की चेतना की परिचायक है। 'देखी तुमरी कासी' शीर्षक इस कविता में विस्तार से वर्णन किया गया है कि काशी की आधी आबादी ब्राह्मणों और संन्यासियों की है और आधी वेश्याओं और उनके दलालों की–

देखी तुमरी कासी लोगों देखी तुमरी कासी

× × × × × × × × × × × × × × × ×

मैली लगी भरी कतवारन खड़ी चमारिन पासी।

नीचे नल से बदबू उबलै मानो नरक चौरासी ॥

काशी का यह पतन भारतीय समाज के मूल्यों के पतन का प्रतीक है। यही नहीं, भारतेंदु ने अपने नाटक 'अंधेर नगरी' (1881) में उपभोक्तावाद और बाजारवाद की विसंगतियों को बेनकाब करते हुए लिखा कि यह 'कलयुग' के बाद का 'छलयुग' है–

साँच कहै तो पनही खावै, झूठे बहुविधि पदवी पावै।

छलियन के एका के आगै, लाख कहौं एकहुं नही लागै।

यह ठीक है कि 'भारत दुर्दशा' में भारतेंदु भारतवासियों से मिलकर रोने का आह्वान करते हैं 'आवह सब मिले रोवहि' पर उनकी मुख्य चिंता थी कि 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?' उनकी इसी चिंता से हिंदी नवजागरण का यह मूल मंत्र प्रस्फुटित हुआ था कि **"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल। बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल ॥"**

भारतेंदु युग की नवजागरण चेतना–हिंदी नवजागरण की चेतना को जगाने का बड़ा श्रेय 1857 ई. के 'प्रथम भारतीय स्वाधीनता संघर्ष' को जाता है। इसने ही हिंदी नवजागरण के लिए जमीन तैयार की। यह कहा जा सकता है कि भारतेंदु युग हिंदी भाषी क्षेत्र में जनजागरण की पहली अभिव्यक्ति थी। आप जानते हैं कि इस काल के रचनाकारों ने (प्रमुख रूप से गद्य लेखकों और पत्रकारों ने) रीतिकाल की साहित्यिक भाषा (ब्रजभाषा) को छोड़कर अपने समय की प्रचलित लोकभाषा (खड़ी बोली) को

अपनाया। आगे चलकर कविता के लिए भी खड़ी बोली स्वीकार कर ली गई। साहित्य की भाषा का यह बदलाव भी जनजागरण का एक लक्षण है। डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में, "जन जागरण की शुरूआत तव होती है जब यहाँ बोलचाल की भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगता है, जब यहाँ विभिन्न प्रदेशों में आधुनिक जातियों का गठन होता है। यह सामंत विरोधी जन जागरण है।" भारत में अंग्रेजी राज कायम करने के सिलसिले में प्लासी की लड़ाई से 1857 के स्वाधीनता संग्राम तक जो भी युद्ध हुए, वे इस जनजागरण की भूमिका की तरह हैं। परंतु 1857 का स्वाधीनता संघर्ष उनसे इस अर्थ में अलग है कि यहाँ मुख्य लड़ाई विदेशी साम्राज्य के खिलाफ है। एक सीमा तक राजभक्ति के स्वर के बावजूद भारतेंदु युग की मूल चेतना जिस राष्ट्रीयता और समाज सुधार की भावना से प्रेरित है, उसका 1857 ई. के संघर्ष से गहरा संबंध है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतेंदु हरिश्चंद्र की रचनाओं में 1857 के स्वाधीनता संघर्ष का उल्लेख 'सिपाही विद्रोह' के रूप में मिलता है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे उसकी केंद्रीय चेतना से अछूते थे। भारतेंदु और उनके साथी लेखक (भारतेंदु मंडल) का 1857 की चेतना से जुड़ाव दो आधारों पर देखा जा सकता है। ये हैं–(1) स्वाधीनता संघर्ष का उद्देश्य, तथा (2) ब्रिटिश राज के स्वरूप की पहचान। अगर 1857 के संघर्ष के उद्देश्य की बात करें, तो वह था–भारत वर्ष से अंग्रेजों को निकालना। जुलाई, 1857 में अवध में जारी एक इश्तहार में सिपाहियों का आह्वान इन शब्दों में किया गया था–"तुम्हें कानपुर जैसी जगहों की तरफ बढ़ना चाहिए। कानपुर चलने में कौन सी कठिनाई है? अगर तुम्हें कानपुर के किले से डर लगता है, तो इलाहाबाद और कलकत्ते के किले जीतने का भार तुमने किसे सौंपा है?" यही नहीं, आगे कहा गया कि "अंग्रेजों की निगाह दिल्ली और लखनऊ पर है, इन्हें बचाने के लिए सिपाहियों को सबसे पहले उपाय करना चाहिए।" तात्पर्य यह है कि यह स्वतंत्रता संघर्ष किसी एक राजे-राजवाड़े को बचाने के लिए नहीं, बल्कि देश के सभी हिस्सों को अंग्रेजों से आजाद कराने के लिए था। यह कहना उचित होगा कि भारतेंदु युग के रचनाकारों को जो युग विरासत में मिला था, उसके एक सिरे पर 1857 का विद्रोह था तो दूसरे सिरे पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (1885) के गठन जैसी राजनीतिक घटना थी। 1857 का संघर्ष अगर 'औपनिवेशिक शक्ति के विरुद्ध भारतीय जनता का संग्राम' था तो कांग्रेस का गठन उस शक्ति के साथ सामंजस्य का एक राजनीतिक प्रयास था जो बाद में राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष का मंत्र बन गया।

स्मरणीय है कि 1857 के संघर्ष में भारत के विभिन्न वर्गों की जनता के तरह-तरह के असंतोषों को अभिव्यक्ति मिली थी। अंग्रेजों की भूमि सुधार योजना ने एक विचित्र प्रकार की सामाजिक अव्यवस्था खड़ी कर दी थी। रियासतों को किसी न किसी बहाने हड़पने की अंग्रेज़ नीति के विरोध ने इस संघर्ष को जनता तथा राजे-रजवाड़े का साझा संघर्ष बना दिया। यही वजह है कि बाद में आम जनता का जबर्दस्त दमन किया गया तथा कठोर अधिनियम लागू किए गए। यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि "अंग्रेजों ने भारत पर अपना राज कायम करने के लिए और उस राज को बनाए रखने के लिए जो देशी फौज खड़ी की थी, वह विद्रोह कर रही थी। जिन हिंदू और मुसलमान सामंतों की जायदाद छीन ली गई थी, वे अंग्रेजों का विरोध कर रहे थे।" (डॉ. रामविलास शर्मा) इससे इस संघर्ष का राष्ट्रीय स्वरूप स्वयं सिद्ध हो जाता है। अर्थात 1857 का यह संघर्ष विदेशी शासन से मुक्ति का अखिल भारतीय स्तर पर प्रथम संगठित प्रयास था।

यह चेतना हिंदी क्षेत्र में प्रचलित सभी लोक भाषाओं में फैल रही थी। इस पूरे क्षेत्र को संबोधित करने के लिए भारतेंदु युग के लेखकों ने समय की नब्ज पहचानकर खड़ी बोली को अपनाया। इन लेखकों ने अपनी-अपनी पत्रिकाओं के माध्यम से खड़ी बोली में पूरे हिंदी भाषी समुदाय को संबोधित किया। उनके इस प्रयास ने ही क्षेत्र को नवजागरण की चेतना से जोड़ने और जगाने का महान कार्य किया। अंग्रेज़ शासक तो इस क्षेत्र को संस्कृत साहित्य, धर्म, दर्शन और हिंदू विधियों के शिक्षण तक सीमित रखना चाहते थे, ताकि यहाँ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का प्रसार न हो सके। लेकिन हिंदी के साहित्यकारों ने अंग्रेजों की मंशा को पहचान कर अपने लेखन और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिंदी क्षेत्र को नए वैज्ञानिक चिंतन से जोड़ने का भरपूर प्रयास किया। भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि लेखक इस दृष्टि से हिंदी नवजागरण के अग्रणी साहित्यकार हैं। इस काल में हिंदी साम्राज्यवाद विरोधी तेवर से युक्त हो चली थी। इस 'नयी चाल में ढली' हिंदी में राजनीतिक व्यंग्य खूब लिखा गया। गद्य ही नहीं, पद्य भी। यथा–"चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिंदी हजम कर जाता।" (भारतेंदु हरिश्चंद्र) अभिप्राय यह है कि 1857 के प्रथम स्वाधीनता संघर्ष ने हिंदी साहित्य के माध्यम से घटित होने वाले हिंदी क्षेत्र के नवजागरण को एक सुनिश्चित दिशा दी थी। इस काल के कवियों और लेखकों को अंग्रेज़ राज के चरित्र की पहचान थी और साथ ही राष्ट्रीय संघर्ष के उद्देश्य की समझ भी थी।

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार, "यहाँ समझा जा सकता है कि बंगाल में आरंभ हुई पुनर्जागरण चेतना मध्य देश में फैलकर अधिक प्रखर रूप में राष्ट्रीय हो जाती है; और उसके वाहक बनते हैं भारतेंदु हरिश्चंद्र।" यहाँ तक कि भारतेंदु ने 'कवि वचन सुधा' जैसी साहित्यिक पत्रिका का भी उपयोग 'स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार का प्रतिज्ञापथ' (23 मार्च, 1874) प्रकाशित करने के लिए किया। भारतेंदु ने 1884 ई. में बलिया में दिए गए अपने व्याख्यान में यह आह्वान किया था कि "बंगाली, मराठा, पंजाबी, मद्रासी, वैदिक, जैन, ब्रह्मो, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो।" इस प्रकार 'स्वदेशी की भावना और राष्ट्र की धर्मनिरपेक्ष परिकल्पना' में भारतेंदु का चिंतन आगे के स्वतंत्रता आंदोलन और भारतीय संविधान की रचना तक के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होता है।

निष्कर्षतः 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भारतेंदु हरिश्चंद्र और नवजागरण की चेतना के संबंध को व्याख्या करते हुए यह लिखा है कि "हिंदी साहित्य में पुनर्जागरण भारतेंदु के माध्यम से अवतरित होता है; और तब यह स्वाभाविक है कि वे आधुनिक काल के प्रवर्तक माने जाते हैं। टैक्स, महामारी, धन के विदेशों में प्रवाह के विरुद्ध वे आवाज उठाते हैं, स्वदेशी और मातृभाषा के प्रयोग के लिए आग्रह करते हैं। और कृष्ण की अनंत प्रतीक्षा में आँखें खुली की खुली रह जाने का मार्मिक उल्लेख करते हैं। भारतेंदु के संदर्भ में यह आधुनिक मानव जीवन की समग्र प्रस्तावना है जो पुनर्जागरण की मुख्य भावभूमि है।"

◆◆◆

2. हिंदी साहित्य के आधुनिक युग की परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

आधुनिक काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का परिचय दीजिए।

अथवा

आधुनिक हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि का विवेचन कीजिए।

उत्तर–आधुनिक काल की परिस्थितियाँ/पृष्ठभूमि–सम्वत् 1900 से आगे के काल को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक काल नाम दिया है। यह काल किसी विशेष प्रवृत्ति अथवा काव्यधारा का सूचक नहीं है बल्कि विभिन्न धाराओं तथा काव्य रूपों के विकास का युग कहा जा सकता है। 19वीं शताब्दी में देश की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों में भारी परिवर्तन हुआ। दूसरी ओर पाश्चात्य साहित्य हिंदी साहित्य को प्रभावित करने लगा। यही कारण है कि आधुनिक कालीन हिंदी साहित्य में उन प्रवृत्तियों का जन्म हुआ जो पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं थी। इस काल के आरम्भ में दो भारी परिवर्तन देखे जा सकते हैं। एक तो ब्रज भाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया और दूसरा गद्य साहित्य का अत्यधिक प्रचलन हुआ जिसमें उपन्यास, कहानी, एकांकी, निबंध, रेखाचित्र, डायरी, जीवनी, आत्मकथा, रिपोतार्ज़, आलोचना आदि प्रमुख विधाओं का जन्म हुआ। काव्य के क्षेत्र में छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, नई कविता, समकालीन कविता आदि विभिन्न वादों के अन्तर्गत काव्य रचना होने लगी। यही कारण है कि इस काल के साहित्य को इस प्रकार के नाम से पुकारना आवश्यक था जिसमें इस युग की सभी प्रवृत्तियाँ समाहित हो सकें। शायद यही कारण है कि आचार्य शुक्ल ने इसे आधुनिक काल की संज्ञा देना अधिक उचित समझा। आधुनिक शब्द दो अर्थों की सूचना देता है। एक तो यह मध्यकाल से भिन्न है। दूसरा, इसमें नवीन दृष्टिकोण को अपना कर साहित्य रचना होने लगी। इस युग के साहित्यकारों ने मध्यकालीन बंधी-बंधाई परिपाटी को त्याग दिया और आधुनिक युग की बौद्धिकता और वैज्ञानिकता के प्रभावों को ग्रहण करके साहित्य की रचना की। अतः सभी दृष्टियों से इस युग का नामकरण आधुनिक काल उचित प्रतीत होता है। यही कारण है कि आधुनिक काल के नामकरण के बारे में कोई विशेष मतभेद नहीं है।

यह एक सर्वविदित बात है कि युग विशेष की परिस्थितियाँ साहित्य को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। साहित्य की प्रवृत्तियाँ परिस्थितियों के अनुकूल ही परिवर्तित और विकसित होती हैं। आधुनिक काल में हिंदी साहित्य का जो एक नवीन विकास हुआ उसके मूल में युगीन परिस्थितियाँ अत्यधिक सक्रिय रही हैं। अतः आधुनिक काल के साहित्य को गहराई से समझने के लिए युगीन परिस्थितियों को समझना नितांत आवश्यक होगा। आधुनिक काल की परिस्थितियों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1. राजनीतिक परिस्थितियाँ–आधुनिक काल का आरम्भ विषम परिस्थितियों में हुआ। मुगलों के शासन काल में ही अंग्रेजों ने व्यापारी बनकर भारत में कदम रखा था परंतु धीरे-धीरे वे अपने पैर फैलाने लगे। सन् 1757 ई. में अंग्रेजों ने प्लासी की लड़ाई में बंगाल को जीत लिया और सन् 1858 ई. तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत के अधिकांश भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। अंग्रेजों का मूल लक्ष्य था–भारत का आर्थिक और सामाजिक शोषण करना। भारतीयों को गुलाम बनाने के लिए उन्होंने

अपनी शिक्षा पद्धति को लागू किया। आगे चलकर लॉर्ड डलहौजी ने सतारा, झांसी, नागपुर आदि रियासतों को जीतकर अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। धीरे-धीरे अंग्रेज शासक अपनी सत्ता का विस्तार करने लगे। सन् 1857 की असफल क्रांति के बाद सम्पूर्ण देश पर अंग्रेजी साम्राज्य का आधिपत्य स्थापित हो गया। यद्यपि महारानी विक्टोरिया ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली, लेकिन अंग्रेज शासकों का मूल लक्ष्य तो यहां के लोगों पर कठोर शासन करना था। विक्टोरिया के शासन काल में अंग्रेजी शासन काफी सुदृढ़ हो गया। इसी काल में रेलों का आविष्कार हुआ और डाक तार की सुविधाएँ उपलब्ध होने लगीं। यह सुधार बहुत ही सीमित था। अब अंग्रेजों ने भारतवासियों के धर्म में हस्तक्षेप करना बंद कर दिया। परन्तु उनकी दमन और आर्थिक शोषण की नीति पहले के समान ही चल रही थी।

सन् 1885 ई. में **इण्डिन नेशनल कांग्रेस** की स्थापना हुआ। राजनीतिक दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। आरम्भ में तो यह संगठन अंग्रेजों के प्रशासन में सहयोग देता रहा। परंतु आगे चलकर बाल गंगाधर तिलक के प्रयत्नों के फलस्वरूप यह संस्थान भारत की स्वतन्त्रता के लिए सक्रिय संघर्ष करने लगा। सन् 1905 ई. में बंग-भंग के कारण लोगों में रोष उत्पन्न होने लगा। सन् 1919 ई. में रोलेट एक्ट तथा जलियांवाला बाग हत्याकांड के कारण स्वाधीनता का संघर्ष और भी तीव्र होने लगा। सन् 1920 ई. में कांग्रेस की बागडोर महात्मा गांधी के हाथों में आ गई। उन्होंने हिंदुओं तथा मुसलमानों के सहयोग से असहयोग आन्दोलन शुरू कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि देश के बड़े-बड़ें नेताओं को जेलों में ठूंस दिया गया। परन्तु उस समय के कुछ नेता और स्वतन्त्रता सेनानी असहयोग आन्दोलन से सहमत नहीं थे। अतः उन्होंने स्वराज पार्टी का गठन किया। अंग्रेज शासकों का दमन चक्र भी तेज होने लगा। उन्होंने न केवल हिंदुओं और मुसलमानों में भेदभाव उत्पन्न किया, बल्कि हिंदी-उर्दू विवाद को भी जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप मुस्लिम लीग की स्थापना हुई और सन् 1930 ई. में भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हुए। सन 1937 में चुनाव हुआ और अधिकांश प्रांतों में कांग्रेस ने मंत्रीमण्डल का गठन किया। परन्तु सन् 1939 ई. में कांग्रेसी सरकारों को त्याग पत्र देना पड़ा। सन् 1942 ई. में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया जिसके फलस्वरूप बड़े-बड़े नेताओं को पुनः जेल यात्रा करनी पड़ी। सन् 1945 ई. में ब्रिटेन में उदार दल की सरकार का गठन हुआ। इस दल को भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन से सहानुभूति थी। सन् 1946 ई. में एक बार पुनः अन्तरिम सरकार बनाई गई परंतु मुस्लिम लीग मुसलमानों और हिन्दुओं में घृणा उत्पन्न करती रही और एक बार पुनः कोलकाता, बिहार तथा पंजाब के प्रांतों में साम्प्रदायिक दंगे होने लगे। अन्ततः 15 अगस्त, 1947 ई. में भारत-पाक विभाजन के साथ देश स्वतंत्र हो गया। इस अवसर पर पुनः व्यापक स्तर पर साम्प्रदायिक दंगे हुए जिसके फलस्वरूप हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों को काफी हानि उठानी पड़ी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर होने लगा और हिन्दी साहित्य भी विकास करने लगा।

2. सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ–आधुनिक काल से पहले ही भारतीय समाज अंधविश्वासों और कुप्रथाओं का शिकार बना हुआ था। 19वीं शताब्दी में ये अन्धविश्वास और कुप्रथाएं अपनी गहरी जड़ें जमाए हुए थीं। लोगों में नारी जाति के प्रति सम्मान की भावना नहीं थी। स्त्रियों को शिक्षा नहीं दी जाती थी और विधवाओं का पुनर्विवाह नहीं होता था। सती प्रथा, बाल विवाह, बालिका हत्या तथा नर बलि की घटनाएं अक्सर होती रहती थीं। समाज में छुआछूत की प्रथा काफी प्रबल थी। निम्न जातियों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। यही नहीं, अस्पृश्यता की भावना के कारण समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग जीवन की आवश्यक सुविधाओं से वंचित था। हिंदू समाज धार्मिक रूढ़ियों का भी शिकार बना हुआ था। अंग्रेज सरकार ने कानून बनाकर सती प्रथा, बालिका हत्या तथा नर बलि जैसी घृणित प्रथाओं को रोकने का भरसक प्रयास किया। ईसाई धर्म के प्रचारकों ने इन परिस्थितियों से लाभ उठाते हुए पीड़ित निम्न जातियों के लोगों को अपने धर्म की ओर आकर्षित किया। फलस्वरूप छोटी जातियों के लोग ईसाई धर्म अपनाने लगे। अब हिंदू समाज में भी जागरूकता उत्पन्न हुई और अनेक धार्मिक आन्दोलन आरम्भ हुए।

धार्मिक और सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए सुधारवादी चेतना जाग्रत हुई और अनेक महान पुरुषों ने सामाजिक और धार्मिक बुराइयों को दूर करने का प्रयास आरंभ कर दिया। सर्वप्रथम राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की। उन्होंने एक ओर स्त्री शिक्षा पर बल दिया और दूसरी ओर विधवाओं के पुनर्विवाह पर बल दिया। इस संदर्भ में डॉ. तिलक राज शर्मा लिखते भी हैं–**"राजा राम मोहन राय पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति से काफी प्रभावित थे, उसके अनेक रीति-रिवाजों के प्रशंसक एवं मुखर समर्थक भी थे, फिर भी उनका उद्देश्य कुरीतियों को जड़ से उन्मूलित करना था। इसी कारण इन्होंने एक सीमा तक पाश्चात्य शिक्षा एवं रीति-नीति का भी समर्थन किया। उन्होंने उपर्युक्त कुरीतियों को तो दूर करने का प्रयत्न किया ही सही, इनके अतिरिक्त विधवा-विवाह, पर्दाप्रथा का विरोध, स्त्री शिक्षा प्रचार, अन्तर्जातीय विवाह, सम्पत्ति में स्त्री का भाग आदि बातों का खुलकर समर्थन किया। उनका दृष्टिकोण मानवतावादी अधिक था।"**

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की। इसाई धर्म के बढ़ते प्रभाव का सामना करने के लिए स्वामी जी ने लोगों में जागृति उत्पन्न की। उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान करते हुए वेदों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने का भी प्रयास किया। इसी प्रकार श्रीमती एनी बेसेंट ने थियोसोफिकल सोयायटी की स्थापना की। सनातन धर्म ने भी सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में समाज सुधार की भावना को बल प्रदान किया। समाज सुधार और राष्ट्रीय जागृति की भावना उत्पन्न करने में स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, राजा राममोहन राय के नाम उल्लेखनीय हैं। इस संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र ने उचित ही लिखा है–**"उस समय की राजनीति, सामाजिक और सांस्कृतिक विचारधारा पर आर्य समाज का विशेष प्रभाव पड़ा। मध्य काल में नये परिवेश के फलस्वरूप जाति प्रथा, छुआछूत, बाह्याडम्बर आदि के विरोध में भक्ति आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। मुसलमानों के प्रतिष्ठित हो जाने पर इस आन्दोलन के माध्यम से सामंजस्य का प्रयास दिखाई पड़ा। किन्तु नये युग में नये प्रकार के सामंजस्य की आवश्यकता हुई। मध्यकाल का सामंजस्य भावनामूलक था। इस काल के बहुत से संत और भक्त अन्तर्विरोधों के भी शिकार थे। परन्तु अब भावना से काम नहीं चल सकता था। उसके स्थान पर बुद्धि, तर्क और विवेक से काम लेना अनिवार्य हो गया था। ब्रह्म सभा, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, आर्य समाज और थियोसोफिकल सोसायटी की मान्यताएँ बहुत कुछ बुद्धि, विवेक और तर्क पर आधारित थीं।"**

पहले बताया जा चुका है कि आधुनिक युग के असंख्य धार्मिक आन्दोलनों के कारण काफी परिवर्तन हुआ। राजा राममोहन राय, आर्य समाज, सनातन धर्म आदि संस्थाओं के प्रयत्नों के फलस्वरूप बाल-विवाह, समुद्र-यात्रा निषेध, जाति भेद तथा छुआछूत विरोधी भावनाओं के विरुद्ध लोगों का मुंह बंद हो गया। स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन दिया गया और बाल विवाह का विरोध करते हुए विधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन किया गया। आगे चलकर रवीन्द्र नाथ ठाकुर, महर्षि अरविंद तथा गांधी जी के प्रभाव के कारण इसमें मानवतावाद का मिश्रण हो गया। यद्यपि हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रयास भी होते रहे। परन्तु अंग्रेजों की कूटनीति के कारण साम्प्रदायिक उपद्रव समय-समय पर होते रहे। भारत-पाक विभाजन इसी धार्मिक कट्टरता का परिणाम था। इस युग में असंख्य धार्मिक आन्दोलनों ने सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा जड़ परम्पराओं का डटकर सामना किया। इस सन्दर्भ में डॉ. नगेन्द्र पुनः लिखते हैं–**"भारतीय धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में अंग्रेज प्रशासकों और ईसाई मिशनरियों के आक्रामक रुख के कारण धर्म सुधारकों के लिए धारदार मार्ग से गुजरना आवश्यक हो गया। एक ओर उन्हें विदेशियों के समक्ष अपने धर्म और संस्कृति की बकालत करनी पड़ी ओर दूसरी और देशवासियों के समक्ष धर्म का नया अर्थापन करना पड़ा। इस प्रकार प्रत्येक बात को तर्क संगत बनाने की दिशा में जो पहल की गई, वह बहुत लाभदायक सिद्ध हुई। इस संस्कृति काल में धर्म का पल्ला पकड़ना बहुत आवश्यक था, क्योंकि धर्म अनिवार्यतः समाज-सुधार के साथ जुड़ा हुआ था।"**

3. आर्थिक परिस्थितियाँ–सन् 1857 की क्रान्ति के पश्चात् भारत पर अंग्रेजी सत्ता का पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो चुका था। अंग्रेजी साम्राज्यवाद का मुख्य उद्देश्य भारत और भारतवासियों का शोषण करना था। अपने इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए अंग्रेज शासकों ने स्थानीय उद्योग-धंधों को नष्ट करना आरंभ कर दिया। इसके लिए वे भारतवासियों पर तरह-तरह के अत्याचार करने लगे। अंग्रेजों ने ढाका की मलमल बनाने वाले कारीगरों के अंगूठे तक कटवा दिए। भारत से कच्चा माल इग्लैंड जाता था और वहां से तैयार हुआ माल भारत की मंडियों में बिकने के लिए आता था। अंग्रेजों के आने से पहले भारत में अनेक प्रकार के उद्योग-धंधे चल रहे थे। परन्तु अंग्रेजों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को तहस-नहस कर दिया। यद्यपि अंग्रेजी शासकों ने रेल, डाक, तार आदि सुविधाओं को बढ़ावा दिया, परन्तु इसके पीछे भी उनका स्वार्थ छिपा था। यही नहीं, लार्ड मैकाले ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा को आंरभ किया ताकि शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए अंग्रेज सरकार को अधिक संख्या में कलर्क प्राप्त हो सकें। प्रसिद्ध आलोचक **श्री प्रकाश चन्द्र** ने लिखा भी है–**"आधुनिक युग का आंरभ उत्पादन, यातायात और वितरण के नये साधनों के साथ होता है। अंग्रेजों ने एक ओर तो देशी उद्योग-धंधों का समूल नाश किया, दूसरी ओर विदेशी पूंजी से नये उद्योग-धंधों को भी शुरू किया। रेल, डाक, तार आदि का आरंभ उन्होंने अपनी राजनीतिक और आर्थिक सत्ता कायम करने के लिए किया। वे एक नई सभ्यता-संस्कृति के दूत बन गए। किन्तु उनका चक्र सुदर्शन चक्र की भांति उलटकर उन्हीं के मर्मस्थल पर लगा।"**

इसके फलस्वरूप महंगाई, टैक्स तथा गरीबी के कारण भारतवासी त्राहि-त्राहि कर रहे थे। अंग्रेज सरकार अपने समर्थकों को जागीरें प्रदान कर रही थी और जमींदारों के माध्यम से गरीब जनता पर अत्याचार कर रही थी। प्रथम विश्वयुद्ध

के बाद कांग्रेस पार्टी ने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने का नारा लगाया, साथ ही अंग्रेजों की आर्थिक-शोषण की नीति का डट कर विरोध किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत की आर्थिक परिस्थितियाँ विषम बन चुकी थीं। महंगाई तथा बेरोजगारी जैसी समस्याएं विकट रूप धारण कर चुकी थी। विशेषकर समाज के अभावग्रस्त तथा निम्न वर्ग के लोग शोषण के फलस्वरूप पिसने लगे थे। यद्यपि अंग्रेजों की आर्थिक नीति के फलस्वरूप भारत में कुछ औद्योगिक विकास भी हुआ, परन्तु उनकी दमनकारी नीति पहले जैसी थी और वे पीड़ित भारतीय जनता पर तरह-तरह से अत्याचार करने लगे। डॉ. हुकुमचन्द राजपाल ने तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए लिखा भी है–**"यूरोप में हुई औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव भारतीय जन-जीवन पर भी पड़ा। कृषक वर्ग गांवों को छोड़कर रोजगार की तलाश में शहरों में आया। कृषि सभ्यता पर आधारित समाज व्यवस्था में लोगों के बीच अधिक मानवीय सम्बन्ध थे, लेकिन आधुनिक क्रांति ने धीरे-धीरे पुराने सामाजिक सम्बन्धों को तोड़ना आरम्भ कर दिया। व्यावसायिकता की जड़ें जमने लगीं। सभी लोग रुपए-पैसे की भाषा बोलने लगे। लोग स्वार्थी हो गए। लोगों की स्वार्थपरता का लाभ उठाकर अंग्रेज दीर्घकाल तक भारत के शासक बने रहे और भारत का आर्थिक शोषण करते रहे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ही स्थिति परिवर्तित हो सकी। आर्थिक शोषण के प्रति आक्रोश के कारण स्वतन्त्रता को अधिक महत्त्व दिया गया।"**

4. साहित्यिक परिस्थितियाँ–आधुनिककालीन साहित्य भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से पूर्वकालीन भक्तिकाल तथा रीतिकाल के साहित्य से सर्वथा अलग है। इसका प्रमुख कारण है कि तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियाँ भक्ति काल और रीतिकाल की परिस्थितियों से अलग थी। भक्तिकालीन साहित्य निर्गुण और सगुण भक्ति में उलझा पड़ा था और रीतिकालीन साहित्य केवल राजमहलों तक सिमटकर रह गया था। परन्तु आधुनिककालीन साहित्य राजमहलों से बाहर निकलकर जनसाधारण की व्यथा-कथा का वर्णन करने लगा। डॉ. शिवकुमार शर्मा इसी प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं–**"रीतिकालीन साहित्य नारी के कुच-कटाक्ष के सीमित कटघरे में बन्द था, जबकि आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट उदारता, व्यापकता और विविधता आई, जिसके फलस्वरूप उसने विशाल जन-समूह को खुली आंखों से देखा। संक्षेप में, रीतिकालीन साहित्य में निम्नांकित प्रवृत्तियाँ थीं–ऐन्द्रियता एवं रसिकता प्रधान शृंगारिकता जिसमें जीवन के सन्तुलित दृष्टिकोण का अभाव है, अलंकरण प्रवृत्ति के प्रति अनावश्यक मोह, रीति निरूपण, प्रकृति का परम्परा मुक्त चित्रण, विशिष्ट-अभिव्यंजना प्रणाली, सामन्ती वातावरण में पुष्ट होने के कारण जीवन के प्रति अत्यन्त सीमित और संकुचित दृष्टिकोण, यान्त्रिक रूढ़िबद्ध तथा अवैयक्तिक जीवन दर्शन, वीररस और भक्ति और नीति-सम्बन्धी कविता, मुक्तक शैली की प्रधानता तथा काव्य के विविध रूपों का अभाव और ब्रजभाषा का प्रयोग। संक्षेप में, रीति साहित्य की भाषा, भाव और शैली, सभी कुछ रूढ़िग्रस्त थीं जो कि बदले हुए आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं थी। अतः आधुनिक हिन्दी साहित्य में इन सभी क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण क्रान्ति हुई।"**

भारतेन्दु युग आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रवेशद्वार कहा जा सकता है। यह एक पुल का काम करता है। भारतेन्दु युग का साहित्य जहां एक ओर हिन्दी साहित्य को विकास की ओर अग्रसर करता है वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीय चेतना भी जाग्रत करता है। आधुनिक युग में छापेखानों के प्रचार के कारण हिन्दी साहित्य को विशेष बल मिला। आगे चलकर द्विवेदी युग में इतिवृतात्मक शैली को अपनाते हुए राष्ट्रीय भावना और सामाजिक जागरण भावना को अधिक बल प्रदान किया गया। इसके बाद छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, समकालीन कविता आदि काव्यधाराओं का उद्भव हुआ। परन्तु आधुनिक साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना यह है कि खड़ी बोली गद्य और पद्य दोनों प्रकार के साहित्य का माध्यम बनी। परन्तु इस युग में गद्य का विकास एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाएगी। उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, आलोचना, रिपोर्ताज, जीवनी, रेखाचित्र आदि असंख्य विधाओं में साहित्य का निर्माण हुआ। परन्तु यहां इस बात का उल्लेख करना उचित होगा कि आधुनिककालीन साहित्य पाश्चात्य साहित्य से अत्यधिक प्रभावित हुआ है। डॉ. लाल चन्द गुप्त (मंगल) आधुनिककालीन साहित्य के बारे में लिखते भी हैं–**"इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान काल में हिन्दी साहित्य विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय और अनेक प्रकार की वाद-गत प्रवृत्तियों से प्रभावित होता हुआ विकास की ओर बढ़ा, फूला और फला है। इन विभिन्न प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के प्रभाव स्वरूप उसकी गति और रूप में बार-बार परिवर्तन हुआ है तथा प्रत्येक परिवर्तन ने उसे एक कदम आगे ही बढ़ाया है। यही कारण है कि आज हम उसे विविध अंग-परिपूरित, पुष्ट एवं समृद्धिशाली देखने में समर्थ हैं।"**

◆◆◆

(ख) आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ (भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावाद युग, प्रगतिवाद , प्रयोगवाद, नई कविता)

1. भारतेंदु युग

3. भारतेन्दु युग का संक्षिप्त परिचय देते हुए भारतेन्दु युगीन कविता की विशेषताएँ बताइए।

अथवा

भारतेन्दु युगीन काव्य-प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–भारतेन्दु युगीन कविता एवं उसकी विशेषताएँ/प्रवृत्तियाँ–हिंदी साहित्य के इतिहास में सामान्यतः 1850 ई. से 1900 ई. तक का समय उस युग के महान साहित्यकार, कवि, नाटककार, गद्यकार श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम पर 'भारतेन्दु युग' के नाम से जाना जाता है।

रीतिकालीन शृंगारी काव्य की प्रतिक्रिया के रूप में आधुनिककालीन कविता का प्रस्फुटन हुआ, परन्तु हिंदी साहित्य को आरंभ करने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हैं। यही कारण है कि भारतेन्दु युग को आधुनिक साहित्य का प्रवेश द्वार कहा गया है। भारतेन्दु और उनके मण्डल के साहित्यकारों ने हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र, राधाकृष्णदास आदि के साथ-साथ बाबा सुमेरसिंह सुधाकर द्विवेदी, रामकृष्ण वर्मा, लाला सीताराम ने भी भारतेन्दु युगीन साहित्य को विकसित किया। इन सभी साहित्यकारों ने अपने-अपने तरीके से साहित्य को समृद्ध करने का प्रयास किया। राधाकृष्णदास ने भारतेन्दु जी के अधूरे नाटक 'सती प्रताप' को पूरा किया। 'दुखिनी बाला', 'महाराणाप्रताप' तथा 'महारानी पद्मावती' इनके मौलिक नाटक हैं। 'निःसहाय हिन्दू' इनका प्रमुख उपन्यास है। इन सब साहित्यकारों में भारतेन्दु काव्य का फलक अत्यधिक विस्तृत है। भारतेन्दु युग की प्रमुख काव्य प्रवृत्तियाँ अथवा काव्यगत साहित्यिक विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

भारतेंदु युगीन कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ/विशेषताएं

1. राष्ट्रीय चेतना
2. प्राचीनता और नवीनता का समन्वय
3. सामाजिक जागरण
4. भक्ति भावना
5. प्रेमभावना
6. प्रकृति-वर्णन
7. हास्य-व्यंग्य का प्रयोग

सामाजिक चेतना के कुछ उदाहरण–

(क) निर्धन किसानों का शोषण–

"अह बिचारे पुख के मारे निस दिन पच-पच मरे किसान।
जब अनाज उत्पन्न होये तब सब उठवा ले जाए लगान।।"

(ख) छुआछूत–

"जात अनेक करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान-पान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायो।।"

(ग) जातिवाद–

"जन्म पत्र बिन मिले ब्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में ब्याहि प्रीत बल नास कियो सब।।"

4. भक्ति भावना–भारतेन्दु युगीन साहित्य की एक अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें भक्ति भावना का निरूपण हुआ है। अधिकांश कवियों ने राधा-कृष्ण को ही अपना उपास्य माना है। इनके काव्य में भले ही भक्तिकालीन भक्त कवियों जैसी उत्कृष्ट भक्ति भावना दिखाई नहीं देती, फिर भी यह अवश्य कहा जाएगा कि इनके भक्तिपरक काव्य में एक सच्चे भक्त की श्रद्धा, एकनिष्ठा व प्रेम के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए, राधाकृष्ण दास अपने आराध्य शंकर से प्रार्थना करते हुए कामना करते हैं–

"करुणामय शंकर स्वामी समपुनि भूतल वपुधारो
मेटि सकल उपधर्म भ्रमित विश्वसिंह जड़ सो जारो।
थापि प्रेम मन भक्ति अचल साँवे गुन हिन्दुन दीजै
मूल धर्म निर्धारित करि प्रभु मोहिं कल्याहिं कीजै।।"

इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी अपने आराध्य-युगल राधा और कृष्ण के प्रति अपनी निष्ठा को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं–

"पूजि के कालिहि सत्रु हतौ कोऊ, लक्ष्मी पूजि महाधन पाओ।
सेई सरस्वती पंडित होऊ, गनेसहि पूजि कै विघ्न बसाओ।
त्यों हरिश्चन्द्र जू ध्याई शिवै कोऊ, चार पदारथ ही लाओ।
मेरे तो राधिका-नायक ही गति, लोक दोऊ रहौ कै नसि जाओ।"

इसी प्रकार बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भी राधा व कृष्ण के युगल रूप के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए अपनी माधुर्य भाव की भक्ति को निम्न पंक्तियों में दर्शाते हैं–

"स्यामघन सम सोभित घनश्याम।
दामिन सम राधारानी संग, मोहत मन अभिराम।
भव भयताप हरहु प्रभु, मेरे सुखदायक छविधाम।।"

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युगीन काव्य में भले ही कतिपय कवियों ने निर्गुण ब्रह्म व श्रीराम के प्रति अपनी भक्ति को काव्य में निरूपित किया है, परन्तु अधिकांश कवियों ने राधा व कृष्ण को ही अपना आराध्य स्वीकार किया है तथा उनके प्रति अपनी अटूट आस्था-श्रद्धा व अनन्य प्रेम भाव को दर्शाया है।

5. प्रेम भावना–भारतेन्दु युग में यद्यपि प्रेम और श्रृंगार का वर्णन हुआ, परन्तु यह संयमित वर्णन कहा जा सकता है। इस युग में मांसल श्रृंगारिकता का सर्वथा अभाव है। भारतेन्दु युगीन कवि नारी के प्रति परिष्कृत दृष्टिकोण अपनाने लगे थे। अतः भारतेन्दु मंडल की काव्य रचनाओं में रीतिकालीन अश्लीलता व नग्नता देखने को नहीं मिलती। बल्कि इन कवियों ने आदर्श प्रेम भावना प्रस्तुत करने पर बल दिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बद्री नारायण चौधरी ने प्रेम तथा सौन्दर्य को आधार बनाकर अनेक ग्रंथों की रचना की। प्रेम माधुरी का संयमित चित्रण किया गया है। भारतेन्दु ने वयःसन्धि पर खड़ी बाला की सुन्दरता का वर्णन करते हुए लिखा है–

"सिसुताई अजौ न गई तन ते तऊ जोबन जोति बटोरे लगी,
सिसु कै चरसा हरिचंद की कान कूक दै भौंह भरोरै लागी।
बचि सासु जेठानिन सों पिय तें दुरि घुंघट में दृग जोरै लगी।
दुलही उल ही सब अंग तें दिन द्वै तें पियूष निचोरै लगी।।"

भारतेन्दुयुगीन कवियों ने शृंगार के संयोग और वियोग, दोनों पक्षों का सुन्दर वर्णन किया है। भारतेन्दु युगीन शृंगार भावना के बारे में डॉ. हुकुमचंद राजपाल लिखते हैं–

"भारतेन्दुयुगीन शृंगार-वर्णन में भक्तिकालीन और रीतिकालीन शृंगार वर्णन का समन्वय है। भक्तिकाल ने इन कवियों ने माधुर्य भक्तिपरक शृंगार-चित्रण की परम्परा को अपनाया तो रीतिकाल से नख-शिख वर्णन, नायिका-भेद, षड्ऋतु वर्णन की परम्परा को ग्रहण किया। इनके शृंगार-वर्णन पर उर्दू कविता तथा अंग्रेजी कविता का भी प्रभाव था।"

6. प्रकृति-वर्णन–भारतेन्दु युगीन काव्य में प्रकृति चित्रण भी हुआ है। परन्तु इनके काव्य में अधिकांशतः परम्परा स्वरूप ही प्रकृति का चित्रण हुआ है। इन कवियों ने प्रकृति चित्रण पर किसी विशेष ग्रन्थ की रचना नहीं की है। इस काव्य में प्रकृति का अधिकांशतः आलम्बन रूप में चित्रण हुआ है। उदाहरण के लिए, कवि भारतेन्दु ने गंगा-यमुना का सजीव वर्णन किया है, यथा–

"नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूंद मध्य मुक्तामनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पर एक इमि आवति।
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावति।।"

इसी प्रकार कवि जगमोहन सिंह ने भी अपने काव्य में प्रकृति के अनेक मनोरम दृश्य अंकित किए हैं। उनके काव्य में प्रकृति के सूक्ष्म, निरीक्षण व नैसर्गिक दृश्यों का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। उदाहरण के लिए, पर्वत-शृंखलाओं की शोभा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं–

"पहार अपार कैलास से कोटिन ऊँची शिक्षा लगि अम्बर चूम।
निहारत दीठि भ्रमै पगिया गिरिजात उतंगता ऊपर झूम।
प्रकाश पतंग सो चोटिन के बिकसै अरविन्द मलिन्द झुझूम।
लसै कटि मेखला के जगमोहन कारी घटा घोरत घूम।।"

7. हास्य-व्यंग्य का प्रयोग–भारतेन्दु युग में हास्य व्यंग्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों ने पश्चिमी सभ्यता, विदेशी शासन, अंग्रेज सरकार आदि पर करारे व्यंग्य किए हैं। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में शिष्ट हास्य को स्थान दिया तथा व्यंग्य गीतों तथा मुकुरियों की रचना की। कुछ उदाहरण देखिए–

"सभा में दोस्तों बन्दर की आमद आमद है
गधे औ फूलों के अफसर की आमद आमद है
रे जो छोड़े तो गदह बादशाह बना,
उसी मसीह के पैकट की आमद आमद है

× × ×

पाजी हूँ मैं कौम का बन्दर मेरा नाम।
बिने फुजूल कूदे फिरे मुझे नहीं आराम।
भीतर-भीतर सब रस चूसे, हँस हँस कै तन-मन-धन मूसै।।"

यही नहीं, भारतेन्दु युग में अशिक्षा, मदिरा सेवन, छुआछूत आदि पर भी करारे व्यंग्य किए गए हैं। इस सन्दर्भ में **डॉ. सुरेश अग्रवाल** लिखते भी हैं–**"सम्प्रेषण की अद्भुत क्षमता इनकी सरल, सीधी और हास्य-व्यंग्य प्रधान कविता का विशेष गुण है। हास्य और व्यंग्य भारतेन्दु जी की कविता के प्रमुख अंग रहे हैं, पर इनका प्रयोग इन्होंने मात्र हंसी या विद्रूपता के उत्पादन के लिए नहीं बल्कि झकझोर कर जागृति लाने के लिए ही अधिक किया है। ऊपर दिए गए उदाहरण से यह तथ्य स्पष्टतः उजागर हो जाता है।"**

भारतेन्दु द्वारा किए गए हास्य और व्यंग्य के कुछ उदाहरण देखिए–

(क) अंग्रेजों पर किया गया व्यंग्य–

"सब गुरु जन को बुरा बतावे, अपनी खिचड़ी आप पकावे,
भीतर तत्त्व न झूठा तेज, क्यों सीखी साजन नहीं सखी अंग्रेज।"

(ख) पुलिस पर किया गया व्यंग्य–

"रूप दिखाकर सरबस लूटे, फन्द में जो पड़े न छूटे।"
कपट कटारी हिय में पुलिस, क्यों सखी साजन नहिं सखी पुलिस।"

8. अनुवाद कार्य–भारतेन्दु युगीन साहित्यकारों ने अनुवाद कार्य तथा समस्यापूर्ति की ओर विशेष बल दिया। इस युग में संस्कृत तथा अंग्रेजी के कुछ ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद हुआ। ठाकुर लक्ष्मण सिंह ने संस्कृत के 'रघुवंश' का हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया। इसी प्रकार ठाकुर जगमोहन ने 'मेघदूत' तथा 'ऋतुसंहार' का हिन्दी में अनुवाद किया। स्वयं भारतेन्दु ने 'नारद भक्ति सूत्र' का हिन्दी काव्यानुवाद किया। इधर श्रीधर पाठक ने अंग्रेजी कवि गोल्ड स्मिथ के 'हरमिट' तथा 'डजर्टिड विलेज' का हिन्दी में अनुवाद किया। इन अनुवादों में दोहा, चौपाई तथा धनाश्री छंदों का प्रयोग हुआ। भले ही अनूदित काव्य रचनाओं की भाषा सरल तथा समृद्ध नहीं बन सकी परन्तु भाव संक्षेपण की दृष्टि से ये रचनाएँ विशेष महत्त्व रखती हैं। इस युग में अनुवाद कार्य के बारे में **डॉ. नगेन्द्र लिखते** भी हैं–

"अतः यह स्पष्ट है कि काव्यानुवाद को व्यापक रूप में प्रोत्साहन देने, इस सन्दर्भ में ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों का ही ललित रूप से प्रयोग करने और अंग्रेजी की काव्य-कृतियों के भाषान्तरण का शुभारम्भ करने का श्रेय पूरी तरह से भारतेन्दु युग को है।"

9. कलापक्ष–काव्य रचना के लिए भारतेन्दु युगीन कवियों ने ब्रजभाषा को अपनाया। परन्तु यह ब्रजभाषा सहज, सरल व बोधगम्य थी। परन्तु भारतेन्दु जी ने ब्रजभाषा में खड़ी बोली के शब्दों का मिश्रण भी किया है। यह शब्द प्रयोग ब्रजभाषा की प्रवृत्ति के सर्वथा अनुकूल है। यही नहीं, इन कवियों ने मुहावरों तथा लोकोक्तियों का खुलकर प्रयोग किया जिससे उनकी भाषा में अर्थ-गाम्भीर्य उत्पन्न हो गया। भारतेन्दु जी ने जहाँ एक ओर कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा, सोरठा आदि परम्परागत छन्दों का प्रयोग किया, वहीं दूसरी ओर कजली व लावनी जैसे लोक प्रचलित छन्दों का भी प्रयोग किया। एक कजली छंद में वे हिन्दुओं की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं–

"टूटै सोमनाथ के मंदिर कोऊ लागै न गुहार।
दौरो दौरो हिन्दू हो सब गौरा करै पुकार।।"

परन्तु गद्य के क्षेत्र में इन कवियों ने खड़ी बोली को अपनाया। यही कारण है कि इस युग में नाटक, निबन्ध, उपन्यास आदि गद्य साहित्य की रचना का आरम्भ हो सका। भारतेन्दु ने अपनी काव्य रचनाओं में उपमा, अनुप्रास, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह आदि अलंकारों का खुलकर प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण देखिए–

उत्प्रेक्षा–"धोवत सुन्दरि बदन करन अति ही छवि पावत
वारिज नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत।।"
रूपक–"सखी मेरे नयना भये चकोर
अनूदित निरखत श्याम-चन्द्रमा सुन्दर नन्द किशोर।"
उपमा–"नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक-सी सोहत।"
सन्देह–"कै पिय-पद-उपमान जानि यहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृडांन-मिस अस्तुति उच्चारत।"

अतः यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों दृष्टियों से महान था। वे एक युग प्रवर्तक कलाकार थे। भारतेन्दु युगीन अन्य साहित्यकारों ने उनसे प्रभावित होकर उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण किया। भारतेन्दु युगीन साहित्यिक भाषा के बारे में डॉ. नगेन्द्र ने उचित ही लिखा है–**"इसके विपरीत भाषा की रागात्मक स्वच्छन्दता, व्यावहारिकता के वृत्त में उसकी प्रभाव क्षमता, मुहावरों और लोकोक्तियों की प्रासंगिकता आदि विशेषताओं के महत्त्व को उन्होंने दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया। भक्तिकाव्य और शृंगार काव्य में कोमलकान्त पदावली तथा वीर काव्य में ओजपूर्ण शब्दावली का प्रयोग इसका उदाहरण है। केवल इतिवृतात्मक अर्थात् वर्णन प्रधान शैली ही उन्होंने नहीं अपनाई, अपितु चित्र-भाषा और उद्बोधन-वैशिष्ट्य भी उनकी रचनात्मक विशेषताएँ हैं। भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र द्वारा होली-वर्णन में प्रतीक-शैली का उपयोग भी उल्लेखनीय है। व्याकरणिक भूलों के निराकरण की प्रवृत्ति भी कुछ कवियों–अम्बिकादत्त व्यास, श्रीधर पाठक, बालमुकुंद गुप्त, राधाकृष्णदास में विशेषतः लक्षित होती है।"**

◆◆◆

4. भारतेंदु युग के प्रमुख कवियों का परिचय दीजिए।

उत्तर–**भारतेंदु युग के प्रमुख कवि**–भारतेंदु युग की अवधि मोटे तौर पर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की अवधि है। यह समय भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से राजकाज सीधे ब्रिटेन की महारानी के हाथ में जाने का समय था। इस समय देश पूरी तरह ब्रिटिश उपनिवेश बन चुका था। नवजागरण और स्वाधीनता की चेतना भारतीयों के मन में कसमसा रही थी। पहले स्वाधीनता संघर्ष के दमन की यादें इस अवधि में ताजा थीं। इस काल के कवियों में देशभक्ति और राजभक्ति का द्वंद्व था क्योंकि एक ओर तो उन्हें अपने देश और उसकी परंपराओं पर गर्व था, लेकिन दूसरी ओर उन्हें पहले के शासकों और कंपनी राज की तुलना में ब्रिटिश राज सुविधाजनक प्रतीत होता था। फिर भी स्वदेश के प्रति अनुराग और पराधीनता से मुक्ति की छटपटाहट इन कवियों की रचनाओं में काफी मुखर दिखाई पड़ती है। इन्होंने प्राचीन और आधुनिक का समन्वय करते हुए भक्ति और शृंगार के साथ-साथ सामाजिक चेतना से संपन्न आधुनिकता बोध के काव्य का सूत्रपात किया। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखने की जरूरत है कि उस काल में अंग्रेज़ शासक भारत का आर्थिक शोषण तो कर ही रहे थे। उन्हीं ने शिक्षित वर्ग को अपने तंत्र का पुर्जा बनाने का अभियान भी चला रखा था। इस शिक्षित वर्ग में ऐसे अनेक लोग शामिल थे जो इस औपनिवेशिक तंत्र का हिस्सा होने के बावजूद अपने देश की आज़ादी और खुशहाली के लिए बेचैन थे। भारतेंदु और उनके युग के विभिन्न कवियों की रचनाओं में भारत के इन्हीं लोगों की भावनाओं को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है।

हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने इस ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाया है कि समाजसुधार और नवजागरण आंदोलन का गहरा प्रभाव पड़ने के कारण भारतेंदु काल की कविता में देश भक्ति, लोक हित, सामाजिक एवं धार्मिक पुनर्निर्माण, मातृभाषा प्रेम और स्वतंत्रता के ऊंचे स्वर सुनाई पड़े। संभवतः ऐसा पहली बार हुआ कि हिंदी कविता भारतेंदु युग में राजनैतिक चेतना से सम्पन्न हुई। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार, "उसमें राजनैतिक चेतना है और अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति, आर्थिक शोषण, काले-गोरे का भेदभाव आदि का विरोध है।" यहाँ यह भी ध्यान में रखने की बात है कि इस काल में हिंदी कविता धर्माश्रय और राजाश्रय दोनों से मुक्ति प्राप्त करती हुई दिखाई देती है। आप जानते ही हैं कि भक्तिकाल में हिंदी कविता की रचना धर्माश्रय में हुई और रीतिकाल के अधिकतर कवि राजाश्रय में रह कर साहित्य सृजन करते थे। लेकिन आधुनिक काल में ये दोनों धाराएं धीरे-धीरे गौण हो गई और जन-गण- मन के अनुरूप साहित्य मुख्य रूप से लोकाश्रय में लिखा जाने लगा। अर्थात इस काल की कविता भगवान की स्तुति या राजाओं की प्रशस्ति करने के बजाय व्यापक लोक जीवन को उसी की भाषा में व्यक्त करने के लिए आगे बढ़ी। इसमें नव-शिक्षित मध्यम वर्ग का विशेष योगदान रहा। यही कारण है कि "भारतेंदु युग की काव्यगत राजनैतिक चेतना देश प्रेम का संदेश देती है। भारत के दुख-दरिद्रता पर संताप प्रकट करती है। शासन संबंधी सुधारों और जनसत्तात्मक प्रणाली की मांग करती है। अंत में पारस्परिक भेदभाव भूल कर भारतवासियों को स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए संगठित होने की प्रेरणा प्रदान करती है।"(हिंदी साहित्य कोश, भाग 1, पृष्ठ 456)।

भारतेंदु युग के सूत्रधार भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म सन् 1850 में बनारस के एक अमीर घराने में। हुआ। इनकी शिक्षा-दीक्षा क्वींस कॉलेज से संबद्ध अंग्रेजी माध्यम के एक जाने-माने स्कूल में हुई। अंग्रेजी शिक्षा के बावजूद वे मानते थे कि 'निज भाषा' की उन्नति के बिना किसी भी समाज या देश की उन्नति अधूरी रहती है। यथा–

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटै न हिय को शूल ॥

भारतेंदु का निधन मात्र 34 वर्ष की आयु में हो गया। लेकिन इतने कम समय में ही उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना करके हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। 'आत्मचरित' मानी जानेवाली एक अधूरी रचना 'एक कहानी : कुछ आप बीती, कुछ जग बीती' में उन्होंने लिखा है–"मैं भी जवानी की उमंगों में चूर, जमाने के ऊँच-नीच से बेखवर, अपनी रसिकाई के नशे में मस्त, दुनिया के मुफ्तखोर सिफ़ारशियों से घिरा हुआ अपनी तारीफ सुन रहा था, पर इस छोटी अवस्था में भी प्रेम को भलीभाँति पहचानता था।" आश्चर्य नहीं कि उनकी रचनाओं के साथ-साथ जीवन-कर्म में भी इस अनमोल प्रेम की प्रतिध्वनि एवं विस्तार है। अपनी 'प्रेममालिका' (1871) नामक कृति में उन्होंने प्रेम की महिमा का बखान करते हुए ईश्वर के जगत को मिथ्या बताया है–'प्रेम सत्य तुमरो जग मिथ्या या मैं कछु न संदेह।'

भारतेंदु ने हिंदी जगत को नेतृत्व और दिशा देने का काम अपनी पत्रिका 'कविवचन सुधा' के माध्यम से आरंभ किया। यह पत्रिका 1868 ई. में शुरू हुई। इसीलिए 'भारतेंदु युग' की वास्तविक शुरुआत भी 1868 ई. से मानी जा सकती है। इसीलिए

यह युग भारतेंदु के निधन (1885 ई.) के बावजूद सन 1900 तक फैला माना जाता है। इस युग में भारतेंदु हरिश्चंद्र के अ... जिन कवियों ने योगदान दिया उनमें प्रतापनारायण मिश्र, अंबिकादत्त व्यास, राधाकृष्ण दास, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह आदि प्रमुख हैं।

भारतेंदु युग का समय आश्चर्यजनक रूप से भारतीय नवजागरण आंदोलन का भी समय है। इस समय का एक ... यह था कि एक ओर तो पश्चिमी शिक्षा, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और ढाँचागत सुविधाओं, जैसे–रेल, सड़क और ... के विकास से प्रभावित तत्कालीन सामान्य नागरिक ही नहीं बुद्धिजीवी और समाज सुधारक भी भारत में ब्रिटिश राज के ... हद तक समर्थक थे। दूसरी ओर उनकी समझ में यह भी आ रहा था कि ये सारे साजो-सामान अंग्रेजों ने भारतीयों के ... लिए विकसित नहीं किए थे। वे तो भारत को अंग्रेजी पढ़े-लिखे क्लर्कों की भीड़ में बदल देना चाहते थे जिससे उन्हें ... के शोषण में सहयोग मिलता रहे। इस तरह वे भारत की कृषि व्यवस्था से लेकर उद्योग धंधों तक को चौपट कर रहे थे ... भारत से तमाम तरह का कच्चा माल ब्रिटेन भेजकर हमें ही उसे वापस ब्रिटिश उत्पाद के रूप में खरीदने के लिए विवश कर रहे थे। इस तरह वे भारत की अर्थव्यवस्था को पंगु बनाने में कामयाब होते गए। नवजागरण कालीन भारतीय बुद्धिजीवियों, समाज सुधारकों और राजनेताओं सभी को इस चाल का पता था। इसीलिए धीरे-धीरे उनके मन में आजादी की चाह भी जन्म ले रही थी। इस स्थिति ने राज-भक्ति और राष्ट्र-भक्ति के बीच एक विचित्र द्वंद्व पैदा कर दिया था। भारतेंदु हरिश्चंद्र सहित उस काल के बहुत से हिंदी रचनाकारों की रचनाओं में यह द्वंद्व साफ दिखाई देता है। कहीं तो वे महारानी विक्टोरिया की जय-जयकार करते हैं और कहीं अंग्रेजों को भीतर-भीतर सब धन चूसने वाला चूहा कहते दिखाई देते हैं। अभिप्राय यह है कि इन कवियों का यह द्वंद्व कोई निजी द्वंद्व नहीं है बल्कि उस नवजागरण काल का अनिवार्य अंतर्विरोध है जिसके एक ओर पर ब्रिटिश राज की न्याय प्रणाली में विश्वास दिखाई देता है तो दूसरी ओर उसकी विघटनकारी नीतियों के प्रति आक्रोश भी झलकता है। अंग्रेजों के प्रति भारतेंदु युग के लेखकों के इस दोहरे रवैये का प्रतिबिंब भारतेंदु हरिश्चंद्र की कविता में इन शब्दों में प्रकट हुआ है–

अंगरेज राज सुख साज सजै सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।।

इस द्वंद्व की व्याख्या करते हुए डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' में यह प्रतिपादित किया है कि "मुसलमान शासकों के टूटते-बिखरते राज की अव्यवस्था को देखते अंग्रेजी शासन की नई व्यवस्था निश्चय ही सराहनीय थी, पर इस तरह का कठोर आर्थिक शोषण इसके पहले कभी नहीं हुआ, यह बात भी उस युग के मनीषियों के सामने बहुत स्पष्ट थी। अंग्रेजों के प्रति आविकर्षण भाव का सूत्र यहीं मिलता है, जो आगे चलकर भी भारतीय मानस को बराबर बाँटे रहा। उनके मन में राज-भक्ति और राष्ट्र-भक्ति दोनों अपने स्थान पर खरी है। भारतेंदु अंग्रेजी शासन की अंधेरगर्दी का जैसा खुल कर ... करते हैं, वैसी ही आत्मीयता के साथ महारानी विक्टोरिया की कल्याण-कामना करते हैं। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के प्रति ... आकृष्ट होते हैं, पर कुछ भयभीत मुद्रा में–

कठिन सिपाही द्रोह अनल जा जल बल नासी।
जिन भय सिर न हिलाय सकत कहूं भारतवासी॥

अभिप्राय यह है कि भारतेंदु युग के रचनाकारों में मिलने वाला राज-भक्ति और राष्ट्र-भक्ति का द्वंद्व पुनर्जागरण प्रक्रिया की ही देन है। इसके लिए इन कवियों पर किसी भी प्रकार का आक्षेप करना अनुचित होगा। सच्ची बात तो यह है कि इन दोनों भावनाओं में से अंतिम रूप में किसी एक का चुनाव करना न तो उस काल के रचनाकार की प्राथमिकता थी, न जरूरत और न संभावना। वह समय तो देश के प्राचीन गौरव को जगाने और आधुनिक बोध के साथ उसे जोड़ने के था। यही कारण है कि यह द्वंद्व एक तरफ रवींद्रनाथ टैगोर से लेकर दूसरी तरफ मैथिलीशरण गुप्त तक में दिखाई देता है। इसलिए यह कहना सही होगा कि इस अंतर्विरोध का समाधान भारतेंदु युग में संभव ही नहीं था। स्वतंत्रता आंदोलन काल में तिलक और गांधी ने इस अंतर्विरोध का समाधान प्रस्तुत किया और इस तरह पुनर्जागरण आंदोलन राष्ट्रीयता आंदोलन में समा गया। यह देखना और भी रोचक है कि इसके बाद फिर से सांस्कृतिक गौरव की खोज का नया अध्याय शुरू हुआ। पुनर्जागरण ने अध्यात्म को लोक-सेवा से जोड़ा और फिर लोक-सेवा को राष्ट्रीयता से। कुछ समय तक तो राष्ट्रीयता का सांस्कृतिक आधार पुष्ट रहा। पर ज्यों-ज्यों उसके स्वरूप में राजनीति प्रवेश करती गई त्यों-त्यों न्यस्त स्वार्थ प्रबल होते गए। संस्कृति एकीकरण करती है, राजनीति विभाजन, यह भारतीय पुनर्जागरण और उसके बाद के काल में अच्छी तरह देखा जा सकता है। भारतीय प्रक्रिया संस्कृति से राजनीति की ओर उन्मुख

हुई, जब कि अमरीकी मनीषी ऐडम्स की नीति थी कि पहले राजनीति और रणनीति को पढ़ लिया जाए, तब धीरे-धीरे संस्कृति की ओर अग्रसर होना उचित है। पुनर्जागरण प्रक्रिया के दोनों उदाहरण हमारे सामने हैं। किसके परिणाम इतिहास में अधिक स्थायी होंगे, इसकी भविष्यवाणी इतनी जल्दी मुनासिब नहीं।" (हिंदी साहित्य और संवेदना का इतिहास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. 87)

भारतेंदु हरिश्चंद्र का एक निजी द्वंद्व भी है। वह यह कि वे विचारों से तो अवश्य आधुनिक लेकिन उनके संस्कार उन्हें विरासत में मिली मध्यकालीनता के साथ जोड़ते थे। इसका अर्थ यह है कि भारतेंदु के व्यक्तित्व में मध्यकालीनता बोध और आधुनिकता बोध का द्वंद्व विद्यमान था। किसी भी रचनाकार के साहित्य में बड़ी सीमा तक उसका निजी व्यक्तित्व भी प्रतिफलित होता है। इसलिए भारतेंदु हरिश्चंद्र के साहित्य में हमें जहाँ एक ओर भक्ति और शृंगार की गहन अनुभूतियों के चित्र मिलते हैं वहीं दूसरी ओर समाज सुधार, राष्ट्र भक्ति, व्यंग्य और विसंगतियों का भी मर्मस्पर्शी अंकन दिखाई देता है। उनकी मध्यकालीनता और प्रगतिशीलता किसी व्यक्ति के दो पैरों की तरह है। मध्यकालीनता वाला पैर जमीन पर टिका है और प्रगतिशीलता वाला पैर आगे बढ़ने के लिए हवा में उठा हुआ है। यही कारण है कि वे एक तरफ तो खड़ी बोली को पद्य के अनुकूल नहीं मानते और ब्रज भाषा को ही काव्य भाषा बनाए रखने पर ज़ोर देते हैं। जबकि दूसरी ओर तमाम पत्रकारिता और गद्य लेखन के लिए उन्होंने खड़ी बोली का पक्ष लिया, जिसके परिणामस्वरूप उस जमाने में हिंदी 'नयी चाल' में ढल सकी। कमोबेश यह बात उस काल के दूसरे रचनाकारों पर भी लागू होती है, क्योंकि संवेदनात्मक स्तर पर वे भी भारतेंदु के आभा मंडल से गहरे जुड़ाव रखते थे।

भारतेंदु मंडल –भारतेंदु हरिश्चंद्र ने तन-मन-धन से जिस प्रकार हिंदी भाषा और साहित्य की अनन्य सेवा की, उसके प्रभाव से उनके जीवन काल में अनेक कवियों और लेखकों का एक अनौपचारिक संगठन जैसा उनके इर्द-गिर्द बन गया था। इस साहित्यिक समूह को हिंदी साहित्य के इतिहास में 'भारतेंदु मंडल' के नाम से पुकारा जाता है। भारतेंदु मंडल के सभी सदस्य साहित्यकारों ने हिंदी गद्य, पद्य और पत्रकारिता का जमकर विकास किया। साथ ही, इनकी वैचारिक मान्यताएँ भी लगभग एक समान थीं। ये सभी राष्ट्रीय चेतना से युक्त और सामाजिक सरोकारों से प्रेरित साहित्यकार थे। भारतेंदु के निधन के बाद भी इनकी साहित्य साधना अबाध गति से चलती रही। भारतेंदु मंडल में सम्मिलित प्रमुख साहित्यकारों में प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह तथा राधाचरण गोस्वामी के नाम सम्मिलित हैं।

1. भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885 ई.)–भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म 1850ई. में हुआ। साहित्य सृजन की प्रेरणा उन्हें अपने परिवार से विरासत में मिली। उनके पिता बाबू गोपाल चंद्र 'गिरिधरदास' अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। उनकी देखा-देखी उन्होंने भी बाल्यावस्था से ही कविताएँ रचनी शुरू कर दी थीं। इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उस समय के पत्रकारों और साहित्यकारों ने इन्हें सन 1880 में 'भारतेंदु' की उपाधि से विभूषित किया था। 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' एवं 'अंधेर नगरी' जैसे सुप्रसिद्ध नाटकों के रचयिता तथा अनेक निबंधों के लेखक भारतेंदु हरिश्चंद्र की लगभग सत्तर छोटी-बड़ी काव्य कृतियाँ हैं, जो 'भारतेंदु ग्रंथावली' में सम्मिलित हैं। उन्होंने पद्य रचना में परंपरा का पालन किया लेकिन गद्य रचना में अनेक नई विधाओं का सूत्रपात किया। इसीलिए उनके बारे में रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि भारतेंदु जी ने हिंदी काव्य को केवल नए-नए विषयों की ओर ही उन्मुख किया, उसके भीतर किसी नवीन विधान या प्रणाली का सूत्रपात नहीं किया। शुक्ल जी ने उनकी शृंगारिक कविताओं तथा कृष्ण भक्त कवियों के अनुकरण पर रचित गेय पदों के साथ-साथ विभिन्न नाटकों में संदर्भानुसार रखने के लिए रचित कविताओं को ध्यान में रखते हुए विचार प्रकट किया है और उनमें 'राजभक्ति तथा देशभक्ति के मेल' को भी उजागर किया है। दरअसल भारतेंदु एक ओर तो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों से भारतवासियों को समृद्ध करने के पक्ष में थे तथा दूसरी ओर वे अंग्रेजी साम्राज्यवाद और शोषण को लेकर सतर्क भी थे। 3 दिसंबर, 1884 की 'नवोदित हरिश्चंद्र चंद्रिका' में पहली बार प्रकाशित सुप्रसिद्ध 'बलिया वाले व्याख्यान' में उन्होंने कहा था–"अंग्रेजों के राज्य में सब प्रकार का सामान पाकर, अवसर पाकर भी हम लोग जो इस समय पर उन्नति न करें तो हमारा केवल अभाग्य और परमेश्वर का कोप ही है।" उनका यह कथन राजभक्ति के साथ-साथ जगजागृति के उद्देश्य से प्रेरित है। वे इससे पहले 1874ई. की 'कविवचन सुधा' में लिख चुके थे–"देशवासियो, तुम इस निद्रा से चौंको, इन (अंग्रेजों) के न्याय के भरोसे मत फूले रहो। रोग और दुष्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज़ ही हैं।" इससे यह भी पता चलता है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र अपने समय की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति की गहरी समझ रखते थे। वस्तुतः नवजागरण काल की अन्य विभूतियों की भाँति भारतेंदु हरिश्चंद्र भी पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान पक्ष में होने के बावजूद अपनी जातीय संस्कृति और विरासत को हर कीमत पर बचाए रखने के पक्षधर थे। इसीलिए उन्होंने कहा है कि–

जो भारत जग में रह्यो सबसे उत्तम देस।
ताही भारत में रह्यो अब नहिं सुख को लेस ॥

यही नहीं, एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट रूप से महारानी विक्टोरिया के राज की निंदा करते हुए यह भी कहा कि-

दीन भये बलहीन भये धन छीन भये सब बुद्धि हिरानी।
ऐसी न चाहिए आपुके राज प्रजागन ज्यों मछरी बिन पानी॥

भारतेंदु की आर्थिक-राजनीतिक समझ का पता उनके इस कथन से भी पता लगता है कि अंग्रेजों के शासन काल में तकनीकी क्षेत्र में तरक्की तो हो रही है लेकिन देश को आर्थिक दृष्टि से खोखला कर देने का "षड्यंत्र भी चल रहा है। यथा-

अंग्रेज़-राज मुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख़्वारी॥

इसके अलावा, उनकी भक्तिपरक रचनाओं में भी व्यक्तिगत मुक्ति की कामना नहीं बल्कि देशानुराग का स्वर सुनाई पड़ता है। 'नीलदेवी' नाटक के एक पद में यह बात देखी जा सकती है-

कहाँ करुणानिधि केशव सोए?
जगत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए।

डॉ. सुरेशचंद्र गुप्त की यह मान्यता भारतेंदु हरिश्चंद्र के मौलिक योगदान को समझने में सहायक है कि "उनकी प्रमुख विशेषता यह है कि अपनी अनेक रचनाओं में जहाँ वे प्राचीन काव्य प्रवृत्तियों के अनुवर्ती रहे, वहाँ नवीन काव्यधारा के प्रवर्तन का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। राजभक्त होते हुए भी वे देशभक्त थे। दास्य भाव की भक्ति के साथ ही उन्होंने माधुर्य भाव की भक्ति भी की है। नायक-नायिका के सौंदर्य वर्णन में ही न रमकर उन्होंने उनके लिए नवीन कर्तव्य क्षेत्रों का भी निर्देश किया है, और इतिवृत्तात्मक काव्य शैली के साथ ही उनमें हास्य-व्यंग्य का पैनापन भी विद्यमान है।"

2. बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (1855-1923ई.)–भारतेंदु मंडल में महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन" आनंद कादंबिनी' और 'नागरी नीरद' नामक पत्रिकाओं के संपादक थे। प्रेमघन की 'जीर्ण जनपद', 'आनंद अरुणोदय', 'हार्दिक हर्षादर्श', 'मयंक-महिमा', 'अलौकिक लीला', 'वर्षा बिंदु' आदि प्रसिद्ध काव्य कृतियाँ हैं जो 'प्रेमघन सर्वस्व' में संकलित हैं। ये सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर लिखने के लिए भी जाने जाते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, "देश में राजनैतिक या धर्म संबंधी जो आदोलन चलते रहे, उन्हें ये बड़ी उत्कंठा से परखा करते थे। जब कहीं कुछ सफलता दिखाई पड़ती, तब लेखों और कविताओं द्वारा हर्ष प्रकट करते, और जब बुरे लक्षण दिखाई देते तब क्षोभ और खिन्नता। कांग्रेस के अधिवेशन में ये प्रायः जाते थे।" इन्होंने राजभक्तिपरक कविताएँ भी लिखीं, लेकिन नई लहर से वे प्रायः राष्ट्रीयता, समाज की दशा और देशभक्ति से भरपूर प्रेरक कविताएँ लिखने के लिए जाने जाते हैं। राजभक्तिपरक कविताओं में भी वे मार्मिकता के साथ देश की दशा का सिंहावलोकत करते थे। उदाहरणस्वरूप, अंग्रेजों द्वारा दादाभाई नौरोजी को 'काला' कहकर अपमानित किए जाने पर उन्होंने अपने क्षोभ को इस प्रकार प्रकट किया था-

अचरज होत तुमहुँ सम गोरे बाजत कारे।
तासों कारे 'कारे' शब्दह पर है वारे ॥
कारे श्याम, राम, जलधर जल बरसनवारे।
कारे लागत ताही सन कारन को प्यारे ॥
यातें नीकों हैं तुम 'कारे' जाहू पुकारे।
यहै असीस देत तुमको मिलि हम सब कारे
सफल होहिं मन के सभी संकल्य तुम्हारे ॥

3. प्रतापनारायण मित्र (1856–1894 ई.)–प्रतापनारायण मिश्र भारतेंदु मंडल के प्रमुख कवि माने जाते हैं। ये 'ब्राह्मण' नामक पत्रिका का संपादन करते थे। इनकी प्रतिनिधि कविताओं का संकलन 'प्रताप लहरी' नाम से प्रकाशित है। प्रतापनारायण मिश्र का रचना संसार अत्यधिक विविधतापूर्ण है। उन्होंने भक्ति और प्रेम से लेकर राष्ट्र, समाज और राजनीति तक पर कविताएँ रचीं। हास्य-व्यंग्यपूर्ण लेखन के लिए ये खास तौर से जाने जाते थे। 'हर गंगा', 'तृप्यंताम', 'बुढ़ापा' आदि उनकी प्रमुख विनोदपूर्ण एवं मनोरंजक कविताएँ हैं। उनके व्यंग्य की एक बानगी देखिए -

जग जाने इंगलिश हमें, वाणी वस्त्रहिं जोय।
मिटै वदन कर श्याम रंग, जन्म सुफल तब होय ॥

4. ठाकुर जगमोहन सिंह (1857-1899 ई.)–मध्यप्रदेश की एक रियासत के राजकुमार ठाकुर जगमोहन सिंह ने काशी में शिक्षा प्राप्त की। तभी वे भारतेंदु हरिश्चंद्र से परिचित और प्रभावित हुए। यह बात अलग है कि उनकी रचना शैली भारतेंदु की रचना शैली से अलग है। भारतेंदु मंडल के कवियों में वे स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति और सजीव प्रकृति चित्रण के लिए खास तौर से जाने जाते हैं। उनकी काव्य कृतियों में 'प्रेमसंपत्तिलता' (1885), 'श्यामलता' (1885), 'श्यामा-सरोजिनी' (1886) और 'देवयानी' (1886) सम्मिलित हैं। रामचंद्र शुक्ल का मत है कि "यद्यपि जगमोहन सिंह जी अपनी कविता को नए विषयों की ओर नहीं ले गए, पर प्राचीन संस्कृत काव्यों के प्राकृतिक वर्णनों का संस्कार मन में लिए हुए, अपनी प्रेमचर्या की मधुर स्मृति से समन्वित विंध्य प्रदेश के रमणीय स्थलों को जिस सच्चे अनुराग की दृष्टि से उन्होंने देखा है, वह ध्यान देने योग्य है। उसके द्वारा उन्होंने हिंदी काव्य में एक नूतन विधान का आभास दिया था। संस्कृत के प्राचीन कवियों की प्रणाली पर हिंदी काव्य के संस्कार का जो संकेत ठाकुर साहब ने दिया, खेद है कि उसकी ओर किसी ने ध्यान न दिया।

5. अंबिकादत्त व्यास (1858-1900 ई.)–संस्कृत और हिंदी के जाने-माने विद्वान अंबिकादत्त व्यास 'पीयूष प्रवाह' नामक पत्रिका के संपादक थे। इनकी काव्य कृतियों में 'पावस पचासा' (1886), 'सुकवि सतसई' (1887) और 'हो हो होरी' (1891) उल्लेखनीय हैं। ये रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं। खड़ी बोली हिंदी में भी उन्होंने 'कंस वध' नामक एक प्रबंध काव्य की रचना की जो अपूर्ण है। उनके 'भारत सौभाग्य' नामक नाटक में भी कुछ गेय पद प्राप्त होते हैं। इन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति में गहरी निष्ठा तथा पाश्चात्य संस्कृति की खामियों को उजागर करने के लिए अनेक कविताएँ रचीं। साथ ही भक्तिपरक दोहे रचे जिनमें ब्रजभाषा की स्वच्छता विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है। यथा-

सुमिरत छवि नंद नंद की, बिसरत सब दुख दंद।
होत अमंद अनंद हिय, मिलत मनहु सुख कंद॥
रसना हू बस ना रहत, बरनि उठत करि ज़ोर।
नंद नंद मुख चंद पै, चितहू होत चकोर ॥

6. राधाकृष्ण दास (1865-1907 ई.)–राधाकृष्ण दास भारतेंदु हरिश्चंद्र के फुफेरे भाई थे। ये बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। तत्कालीन समाज की स्थिति को लेकर रचित इनकी कविताएँ 'भारत बारहमासा' एवं 'देश-दशा' बहुत प्रसिद्ध हुईं। इन्होंने नाटक, उपन्यास एवं आलोचना के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय योगदान दिया है। इनकी कुछ कविताएँ 'राधाकृष्ण-ग्रंथावली' में संकलित हैं। राधाकृष्ण दास ने ब्रजभाषा और खड़ीबोली, दोनों में अपनी कवि प्रतिभा का प्रमाण दिया। राधा और कृष्ण के प्रेम का निरूपण करने वाली उनकी रचनाएँ माधुर्य से भरपूर हैं।

भारतेंदु युग की देन–हिंदी साहित्य में आधुनिकता बोध का श्रीगणेश करने की दृष्टि से भारतेंदु युग और उसमें भी विशेष रूप से भारतेंदु मंडल के रचनाकारों की देन को भुलाया नहीं जा सकता। इन कवियों ने हिंदी कविता को रीतिकाल की अतिशय शृंगारिकता और रीतिबद्धता से आजाद किया। उसके स्थान पर इन्होंने समाज और राष्ट्र की दशा और दिशा के साथ अपने रचनाकर्म को लोकमंगल का संस्कार प्रदान किया। भारतीय संस्कृति और इतिहास के गुणगान के साथ ही समाज सुधार के प्रति जो रुचि इन कवियों ने प्रदर्शित की, उसने आगे आने वाले अर्थात द्विवेदी युग के कवियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। भारतेंदु युग का काव्य बड़ी सीमा तक रीतिकाल से आधुनिक काल की दिशा में बहते नए भावबोध की आरंभिक आहटों का काल है। इन आहटों को बीसवीं के पहले दशकों में जागरण और सुधार के स्वरों के रूप में परिवर्तित होते सुना जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि भारतेंदु युग की कविता ने द्विवेदी युग की कविता के व्यापक लोकवादी संस्कार की नींव रखने का काम किया।

काव्यभाषा की दृष्टि से भारतेंदु युग धीरे-धीरे बदलाव को आत्मसात करता दिखाई देता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र मानते थे कि गद्य के लिए खड़ी बोली उपयुक्त होने के बावजूद वह पद्य के लिए अनुकूल नहीं है। इसीलिए उन्होंने स्वयं ब्रजभाषा में ही कविता रची। परंतु आगे चलकर धीरे-धीरे ब्रजभाषा का स्थान खड़ीबोली ने ले लिया।

कुल मिलाकर, भारतेंदु युग की सबसे बड़ी उपलब्धि आधुनिक विषयों की ओर उन्मुख होने और सामाजिक-राजनैतिक प्रश्नों के प्रति सजग होने को माना जा सकता है। साथ ही इस युग के प्रायः सभी कवियों में प्राचीन और नवीन के समन्वय की जो चेष्टा दिखाई देती है, उसने नवजागरण की चेतना को पाठकों तक पहुँचाने में बड़ी भूमिका निभाई।

5. द्विवेदी युगीन काव्यधारा का परिचय देते हुए इसकी प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

द्विवेदी युगीन कविता की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर–द्विवेदी युगीन काव्यधारा–उन्नीसवीं शताब्दी का अंत होते-होते साहित्य की हवा बदलने लगी। जनता ने भक्ति और शृंगार जैसी प्रवृत्तियों से परिपूर्ण कविताओं में रुचि लेना बंद कर दिया। समस्यापूर्तियों एवं नीरस तुकबंदियों से हृदय ऊब गया था तथा काव्य की भाषा के रूप में ब्रजभाषा का आकर्षण भी अब खत्म होने लगा था। धीरे-धीरे ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली हिंदी ने ले लिया।

हिंदी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल एक तरह से जागरण का संदेश लेकर आया था। सन् 1857 ई. के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ने नवजागरण का एलान कर दिया था। परिणामस्वरूप भारतीय जनता में देशभक्ति, स्वतंत्रता, राष्ट्र के प्रति स्वदेशाभिमान की भावनाएँ जाग्रत होने लगीं। भारतेंदु युग में जहाँ इन प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ, वहीं द्विवेदी युग में ये प्रस्फुटित एवं विकसित हो गईं। नवजागरण की लहर को जन-जन तक पहुँचाने में 'सरस्वती' पत्रिका का बहुत अधिक योगदान है।

आप जानते ही हैं कि 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन 1900 ई. से प्रारंभ हुआ। सन् 1903 ई. में महावीर प्रसाद द्विवेदी इस पत्रिका के संपादक बने। द्विवेदी जी ने इस पत्रिका के माध्यम से ऐसे साहित्य को प्रकाशित किया जिसने नवजागरण की लहर को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। द्विवेदी युग का नामकरण आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व को केंद्र में रखकर किया गया है। उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक के रूप में हिंदी जगत की बहुत सेवा की और हिंदी साहित्य की दिशा को सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने इस पत्रिका के माध्यम से कवियों को पुराने विषयों, जैसे–नायिका भेद आदि को छोड़कर नए विषयों पर कविता लिखने को प्रेरित किया। काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा को छोड़कर उन्होंने खड़ी बोली का प्रयोग करने का सुझाव दिया। इसके पीछे कारण यह था कि गद्य और पद्य दोनों की भाषा एक हो। द्विवेदी जी ने कवियों को उनके कर्तव्य का बोध कराया तथा यह बताने की कोशिश की कि काव्य में किस प्रकार विषय-वस्तु, भाषा-शैली तथा छंद योजना आदि के द्वारा नवीनता लाई जा सकती है। उन्होंने भाषा संस्कार, व्याकरण की शुद्धि तथा हिंदी में विराम चिह्नों के प्रयोग पर भी बल दिया।

महावीर प्रसाद द्विवेदी का हिंदी साहित्य में बहुत ही अतुलनीय योगदान रहा। उनका हिंदी साहित्य में योगदान एक विचारक, दिशा-निर्देशक तथा चिंतक के रूप में देखा जा सकता है। उनकी प्रेरणा से हिंदी के अनेक कवि सामने आए जो उनके आदर्शों को लेकर आगे बढ़े। उन्होंने एक ओर तो भारतेंदुकालीन समस्यापूर्ति, रीति निरूपण तथा शृंगारिकता से हिंदी कविता को मुक्त किया तथा दूसरी ओर 'खड़ी बोली' को कविता की भाषा बना दिया।

द्विवेदी युग में भाषा के साथ-साथ छंदों में भी परिवर्तन देखा गया। अब कवि संस्कृत के वर्ण वृत्तों का प्रयोग करने लगे। 'सरस्वती' पत्रिका ने भाषा और साहित्य दोनों में अपना योगदान दिया। खड़ी बोली का विकास तो इस युग की सबसे महत्वपूर्ण देन है ही। खड़ी बोली को परिमार्जित करने तथा उसे व्याकरणिक शुद्धता प्रदान करने में 'सरस्वती' पत्रिका का बहुत अधिक योगदान रहा है। द्विवेदी जी के भाषा विषयक योगदान पर टिप्पणी करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है, "खड़ी बोली के पद्य विधान पर द्विवेदी जी का पूरा-पूरा असर पड़ा। बहुत से कवियों की भाषा शिथिल और अव्यवस्थित होती थी। द्विवेदी जी ऐसे कवियों की भेजी हुई कविताओं की भाषा दुरुस्त करके 'सरस्वती' में छापा करते थे। इस प्रकार कवियों की भाषा साफ़ होती गई और द्विवेदी जी के अनुकरण में अन्य लेखक भी शुद्ध भाषा लिखने लगे।" 'सरस्वती' पत्रिका ने कई नए कवियों को जन्म दिया। उनकी प्रेरणा से अनेक कवियों ने नए-नए विषयों पर कविताएँ लिखीं जिनका प्रभाव समाज पर भी पड़ा।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से प्रेरणा लेकर आगे बढ़ने वाले अनेक कवि इस युग में हुए, जैसे–मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' तथा लोचनप्रसाद पांडेय आदि। इनके अलावा कुछ कवि ऐसे भी इस युग में हुए जो पहले ब्रजभाषा में कविता कर रहे थे तथा उनकी कविता का विषय भी प्राचीन हुआ करता था। ऐसे कवियों ने

भी 'सरस्वती' पत्रिका और द्विवेदी जी के नवीन विचारों से प्रभावित होकर अपनी कविता में नवीनता का समावेश किया। इससे खड़ी बोली में कविता लिखने को प्रोत्साहन मिला। ऐसे कवियों में मुख्य हैं–अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्रीधर पाठक, नाथुराम शर्मा 'शंकर' आदि। इन कवियों की कविताओं में नवजागरण, राष्ट्रीयता और स्वदेशानुराग जैसे गुण पाए जाते हैं।

द्विवेदी युगीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों–द्विवेदी युगीन साहित्य समाजोन्मुखी साहित्य है किंतु व्यक्ति की भी पूर्णतः उपेक्षा नहीं करता। इस युग के सभी साहित्यकारों को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली में काव्य रचना करने के लिए प्रेरित किया। अतः 1900 से लेकर 1918 तक के युग को 'द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है। इस काल की सभी परिस्थितियाँ–राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक–इस समय के लेखकों की संवेदना और बौद्धिकता के मिश्रण को दर्शाती हैं। इस युग की प्रवृत्तियाँ निम्न प्रकार से हैं–

द्विवेदी युगीन काव्य प्रवृत्तियाँ/विशेषताएँ

1. देशप्रेम की भावना
2. सामाजिक समस्याओं का चित्रण
3. नैतिकता एवं आदर्शवाद
4. सामान्य मानवता
5. वर्ण्य विषय का विस्तार
6. हास्य-व्यंग्य
7. सभी काव्य रूपों का प्रयोग
8. नारी के प्रति दृष्टिकोण
9. भाषा परिवर्तन

1. देशप्रेम की भावना–द्विवेदी युग के कवियों ने आम जनता के बीच राष्ट्रप्रेम की लहर चलाई। कवियों ने स्वतंत्रता के प्रति जनमानस को जागरूक किया। इस युग के रचनाकारों का राष्ट्रप्रेम समस्याओं के कारणों पर विचार करने के साथ-साथ उनके समाधान ढूँढने का भी प्रयास करता है। मैथिलीशरण गुप्त की रचना 'भारत-भारती' 'को राष्ट्रप्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। 'भारत भारती' के कारण ही मैथिलीशरण गुप्त को 'राष्ट्रकवि' कहा गया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में, "पहले पहल हिंदी प्रेमियों का सबसे अधिक ध्यान खींचने वाली पुस्तक भी यही है।" इसकी लोकप्रियता का आलम यह रहा है कि इसकी प्रतियाँ रातोंरात खरीदी गईं। प्रभात फेरियों, राष्ट्रीय आंदोलनों, शिक्षा संस्थानों, प्रातःकालीन प्रार्थनाओं में 'भारत भारती' के पद गाँवों-नगरों में गाए जाने लगे।

2. सामाजिक समस्याओं का चित्रण–द्विवेदी युग के कवियों ने सामाजिक समस्याओं, जैसे–दहेज प्रथा, नारी उत्पीड़न, छुआछूत, बाल विवाह आदि को कविता का विषय बनाया। इस काव्यधारा में उपेक्षित नारियों को कविता में स्थान दिया गया।

'यशोधरा' में मैथिलीशरण गुप्त ने गौतम बुद्ध की पत्नी, 'साकेत' में उर्मिला, 'विष्णुप्रिया' में चैतन्य महाप्रभु की पत्नी के दुख-दर्द को अभिव्यक्त किया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'वैदेही वनवास' और 'प्रियप्रवास' के माध्यम से सीता और राधा के चरित्रों को आधुनिक संदर्भ में नया रूप दिया। यह युग इसी कारण से सुधारवादी युग कहलाता है।

3. नैतिकता एवं आदर्शवाद–आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी नैतिकता एवं आदर्श के पुजारी माने जाते हैं। द्विवेदी युगीन काव्य आदर्शवादी एवं नीति पर आधारित काव्य है। इस युग के साहित्य में श्रृंगारिकता दिखाई नहीं पड़ती। हरिऔध कृत 'प्रियप्रवास', मैथिलीशरण गुप्त कृत 'साकेत', 'रंग में भंग', 'जयद्रथ वध' आदि आदर्शवादी कृतियाँ हैं। रीतिकाल में राधा-कृष्ण श्रृंगार के आलंबन हैं, जबकि द्विवेदी युग की राधा जगत से सरोकार रखने वाली तथा समाज सेविका के रूप में दिखाई देती है।

4. सामान्य मानवता–द्विवेदी युग में सामान्यतः मानव-मात्र के सुख-दुख का बहुत ही सहज एवं सजीव चित्रण किया गया है। पहले के काव्य में ईश्वर, अवतार, राजा, सामंत, योद्धा तथा नायिकाओं को केंद्रीय स्थान मिलता था। द्विवेदी युग में सामान्य मानव को यह स्थान मिला। इस काल की कविताओं में दीन-हीन कृषक तथा विधवा के दुख का चित्रण किया गया है। अशिक्षित नारियों की दशा का भी वर्णन इस युग के काव्य में मिलता है। साथ ही, उच्च जातियों द्वारा निम्न जातियों के प्रति किए गए अन्याय को कविताओं का विषय बनाया गया।

5. वर्ण्य विषय का विस्तार–द्विवेदी युग में वर्ण्य विषय का बहुत अधिक विस्तार देखा गया। इसमें जीवन तथा जगत के सभी दृश्य और पदार्थ कविता के विषय बनाए गए। छोटे-छोटे विषयों पर कविता लिखी जाने लगी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'कवि कर्तव्य' निबंध में लिखा था–"चींटी से लेकर हाथी पर्यंत पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यंत, बिंदु से लेकर समुद्र पर्यंत जल, अनंत आकाश, अनंत पर्वत सभी पर कविता हो सकती है। इस युग के विषय वैविध्य का अनुमान कुछ तत्कालीन कविताओं के शीर्षकों से सहज ही लगाया जा सकता है, जैसे–परोपकार, मुरली, कृषक, सत्य, लड़कपन, ग्रंथ-गुणगान, ईर्ष्या, निद्रा, कलियुगी साधु, पुस्तकें, प्रेम, ब्रह्मचर्य, हिंदी की अपील, बालक, हिंदी साहित्य सम्मेलन, मूढ़ मानव, मेहंदी, नेकटाई, मनोव्यथा, कामना, विद्या, कुलीनता, पौरुष, शिशु-खेह, सुखमय जीवन, भारतीय छात्रों से नम्र निवेदन, लक्ष्मी- लीला, सपूत, ग्राम गौरव, सज्जनों का स्वभाव, समालोचक-लक्षण, दरिद्र विद्यार्थी। इस विषय विस्तार का एक परिणाम यह हुआ कि कविता अभिधा प्रधान वर्णनों से बाधित और इतिवृत्तात्मक बनने लगी। यह इतिवृत्तात्मकता ही द्विवेदी युग की बड़ी सीमा है।

6. हास्य-व्यंग्य–द्विवेदी युग में हास्य-व्यंग्य से परिपूर्ण काव्य बहुत कम लिखे गए। भारतेंदु युग जैसी जिंदादिली, चुहलबाजी और फक्कड़पन इस युग की कविता में नहीं पाई जाती। जितना भी साहित्य इस समय रचा गया, वह उच्च कोटि का और मर्यादित है। इस युग के साहित्य में सामाजिक कुरीतियाँ, धर्माडंबर, राजनीतिक गिरावट तथा व्यभिचार आदि को हास्य-व्यंग्य का लक्ष्य बनाया गया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरगी नरक ठेकाना नाहिं' में गाँव को छोड़कर शहर जाने वाले और विदेशी सभ्यता का आँख मूंदकर अनुकरण करने वाले लोगों पर व्यंग्य किया। इस युग के सबसे सशक्त व्यंग्यकार बालमुकुंद गुप्त माने जाते हैं। इन्होंने लार्ड कर्जन को आलंबन बनाकर हास्य-व्यंग्य कविताएँ रचीं। नाथुराम शर्मा 'शंकर', ईश्वरी प्रसाद शर्मा तथा जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी की कविताओं में भी हास्य-व्यंग्य दिखाई देता है।

7. सभी काव्य रूपों का प्रयोग–अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने खड़ी बोली के प्रथम महाकाव्य 'प्रियप्रवास' की रचना की तो मैथिलीशरण गुप्त ने अपने महाकाव्य 'साकेत' में उर्मिला की दृष्टि से रामकथा का पुनर्पाठ प्रस्तुत किया। इस युग के खंड काव्यों में प्रमुख हैं–मैथिलीशरण गुप्त रचित 'रंग में भंग', 'जयद्रथ वध' और 'किसान'; जयशंकर प्रसाद रचित 'प्रेमपथिक'; सियारामशरण गुप्त रचित 'मौर्य विजय' और रामनरेश त्रिपाठी रचित 'मिलन'। इनके अलावा इस काल में अनेक पद्य कथाएँ भी रची गई, जैसे–विकट भट, शकुंतला जन्म, सती सीता आदि। मुक्तक रचना और प्रगीतों की दृष्टि से भी यह युग काफी समृद्ध है। मैथिलीशरान गुप्त, मुकुटधर पांडेय और माखनलाल चतुर्वेदी ने इस युग में प्रगीत रचे।

8. नारी के प्रति दृष्टिकोण–द्विवेदी युग के कवियों में आधुनिकता के कारण नारी के प्रति प्रगतिशील दृष्टि दिखाई देती है। उर्मिला, हिडिंबा, कैकेयी, यशोधरा जैसे जिन ऐतिहासिक-पौराणिक नारी पात्रों को हाशिये पर छोड़ दिया था, उन्हें द्विवेदी युगीन कवियों ने केंद्र में लाकर अपने काव्य में नायिका का स्थान दिया है। उन नारी पात्रों का चित्रण आज के संदर्भ में करना एक महत्वपूर्ण बात है। 'साकेत' की उर्मिला केवल एक पौराणिक पात्र नहीं, बल्कि आज के युग की विशेषताओं से युक्त नारी है।

9. भाषा परिवर्तन–इस युग में काव्य की मुख्य भाषा ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया। यद्यपि आरंभ में खड़ी बोली कविता नीरस तुकबंदी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं थी, लेकिन बाद में इसमें निखार आता गया तथा पाठक को यह

सरलतापूर्वक समझ में आने लगी। 'जयद्रथ वध' की प्रसिद्धि ने ब्रजभाषा के मोह का वध कर दिया तो 'भारत भारती 'की लोकप्रियता खड़ी बोली की विजय भारती सिद्ध हुई। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के मार्गदर्शन में इस युग की काव्य भाषा सरल, सुबोध, शुद्ध एवं रसों के अनुरूप ढलती गई।

इस चर्चा से स्पष्ट है कि द्विवेदी युग के कवियों ने हिंदी काव्य को शृंगारिकता से आधुनिकता की और ले जाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। साथ ही इन्होंने खड़ी बोली को कविता की भाषा के रूप में मान्यता दिलवाई। द्विवेदी युगीन चेतना राष्ट्री प्रेम, सामाजिक सरोकार, प्रकृति और भाषा शैली सभी स्तरों पर प्रखर दिखाई देती देती है।

◆◆◆

6. द्विवेदी युग के प्रमुख कवियों का परिचय दीजिए।

उत्तर–द्विवेदी युग के प्रमुख कवि–द्विवेदी युग के प्रमुख कवि निम्नलिखित हैं–

1. श्रीधर पाठक (1859-1928) ई.–श्रीधर पाठक खड़ी बोली के प्रथम कवि हैं। पहले वे ब्रजभाषा में कविता करते थे। लेकिन महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' का संपादन संभालने से पूर्व ही इन्होंने खड़ी बोली में कविता लिख कर अपनी स्वच्छंद वृत्ति का परिचय दे दिया था। इनकी कविताओं का मुख्य विषय देशप्रेम, समाज सुधार तथा प्रकृति चित्रण है। एक तरफ इन्होंने 'भारतोत्थान', 'भारत प्रशंसा' आदि देशभक्तिपूर्ण कविताएँ लिखीं तो दूसरी ओर उनकी 'जार्ज वंदना' जैसी कविताओं में राजभक्ति भी दिखाई देती है। 'बाल विधवा' में विधवाओं की दशा का वर्णन किया गया है। इन्हें प्रकृति चित्रण वाली कविताओं में अधिक सफलता प्राप्त हुई। 1900 में उन्होंने 'गुणवंत हेमंत' नाम की कविता लिखी। इसमें प्रकृति का बहुत ही वास्तविक रूप से वर्णन किया गया है। इसमें ज्वार, बाजरा, खरीफ, रबी, सौंफ, पालक आदि का वर्णन किया गया है। उन्हें हिंदी कविता में स्वच्छंदतावादी धारा के प्रथम उत्थान का कवि माना जाता है।

पाठक जी कुशल अनुवादक भी थे। उन्होंने गोल्डस्मिथ की तीन रचनाओं का अनुवाद किया है–'हरमिट' का 'एकांतवासी योगी' नाम से तथा 'डेजर्टेड विलेज' का 'ऊजड़ ग्राम' नाम से तथा 'ट्रेवलर' का 'श्रांत पथिक' नाम से। इनकी मौलिक कृतियों में 'वनाष्टक', 'कश्मीर सुषमा' (1904), 'देहरादून' (1915) और 'भारतगीत' (1928) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। 'आराध्य शोकांजलि' नामक शोक गीत उन्होंने 1906 ई. में अपने पिता की मृत्यु पर लिखा था।

श्रीधर पाठक ने छंदों को नए ढाँचे में डाला। 'एकांतवासी योगी' की रचना खड़ी बोली में लावणी या ख्याल के ढंग पर की गई है। इसमें खड़ी बोली कविता के लिए रोला छंद की उपयुक्तता दिखाई गई है। यही नहीं, उन्होंने सवैया छंद में भी खड़ी बोली का मधुरता के साथ प्रयोग करके दिखाया।

2. महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1903 ई.)–द्विवेदी युग के प्रवर्तक कवि महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म रायबरेली के दौलतपुर नामक गाँव में 1864 ई. में हुआ। 1903 ई. में ये 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक बने तथा 1920 तक इसी पद पर रहे। इन्होंने गद्य तथा पद्य दोनों तरह की रचनाएँ की हैं। इनकी दोनों तरह की रचनाओं की कुल संख्या लगभग 80 हैं। भारतेंदु युग में गद्य की भाषा के रूप में खड़ी बोली को अपनाया जा चुका था, लेकिन उसे काव्यभाषा के रूप में द्विवेदीजी ने ही स्वीकृति दिलाई। 'सरस्वती' के संपादक के रूप में इन्होंने हिंदी भाषा और साहित्य के उत्थान के लिए जो कार्य किया, उसे कभी भूला नहीं जा सकता। इनके प्रोत्साहन और प्रयास से कवियों और लेखकों की एक पीढ़ी का निर्माण हुआ। खड़ी बोली को परिष्कार तथा स्थिरता प्रदान करने वालों में द्विवेदी जी का नाम अग्रगण्य है। ये कवि, आलोचक, निबंधकार, अनुवादक तथा संपादकाचार्य थे। काव्यमंजूषा, सुमन, कान्यकुब्ज, अबला विलाप, गंगालहरी, ऋतु तरंगिणी, कुमारसंभवसार (अनूदित) आदि द्विवेदी जी की मुख्य रचनाएँ हैं। इनकी कविता की भाषा सहज, सरल तथा उपदेशपूर्ण होती थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा के प्रति समन्वयकारी दृष्टि अपनाई, जिससे खड़ी बोली समृद्ध हो सकी। उन्होंने आगरा सम्मेलन में साहित्यकारों को संबोधित करते हुए कहा था कि "जो अपने आप को ब्रज क्षेत्र का मानते हों, वे ब्रज भाषा का प्रयोग कर सकते हैं; परंतु जो अपना जुड़ाव अखंड भारत से मानते हों, उनकी भाषा निश्चिततः खड़ी बोली होनी चाहिए।" उन्होंने रीतिकाल के गिने-चुने विषयों के बंधन से कविता को मुक्त करते हुए कहा कि चींटी से लेकर हाथी पर्यंत जीव, रंक से लेकर राजा पर्यंत, बिंदु से लेकर सिंधु पर्यंत जल, अनंत आकाश, अनंत पृथ्वी, अनंत पर्वत सभी काव्य के विषय हो सकते हैं।

यद्यपि द्विवेदी जी ने अनेक स्थानों पर तत्सम प्रधान भाषा का प्रयोग किया है, ... सरल शब्दावली के प्रयोग में भी सिद्धहस्त थे। जैसे–

तुम्ही अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज महाराज।
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना-दाना को मोहताज ॥
तुम्हें षंड कर देते हैं जो महा निर्दयी जन सिरताज।
धिक उनको, उन पर हँसता है, बुरी तरह, यह सकल समाज ॥

वस्तुतः आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का हिंदी साहित्य में योगदान एक विचारक तथा दिशा निर्देशक के रूप में जाना जाता है। उनकी विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए इस युग के कवियों ने एक नवीन काव्यधारा का श्रीगणेश किया तथा खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाया। भाषा के इस नए रूप के प्रयोग के लिए द्विवेदी का नाम हमेशा हिंदी साहित्य में याद किया जाएगा।

3. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (1865-1947 ई.)–हरिऔध जी द्विवेदी युग के प्रख्यात कवि होने के साथ-साथ उपन्यासकार, आलोचक एवं इतिहासकार भी थे। उन्हें 'खड़ी बोली का प्रथम महाकवि' होने का गौरव प्राप्त है। श्रीधर पाठक के बाद हरिऔध जी ही हैं जिन्होंने खड़ी बोली में सरस व मधुर रचनाएँ कीं। उनका जन्म निजामाबाद, जिला आजमगढ़ में सन् 1865 ई. में हुआ। हरिऔध जी ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में ही रचनाएँ की। इन्हें उर्दू, फारसी एवं संस्कृत तीनों भाषाओं का ज्ञान था। उनकी मुख्य रचनाएँ हैं–प्रियप्रवास (1914), पद्मप्रसून (1925), चुभते चौपदे, चौखे चौपदे (1932), बोलचाल, रसकलश तथा वैदेही बनवास (1940)

हरिऔध जी ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में रचनाएँ की हैं। उन्होंने 'रसकलश' की रचना ब्रजभाषा में की, जबकि उनके द्वारा रचित 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का 'पहला महाकाव्य' है। यह उनकी स्वायत्त रचना है। 'प्रियप्रवास' में राधा और कृष्ण को सामान्य नायक-नायिका के स्तर से ऊपर उठा कर विश्वसेवी तथा विश्वप्रेमी के रूप में चित्रित किया है। हरिऔंध जी ने इसमें अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। 'प्रियप्रवास' की राधा केवल एक विरहिणी के जैसी ही नहीं दिखायी गयी है बल्कि वह लोक व समाज सेविका की भूमिका भी निभाती है। इसमें कृष्ण को जननायक के रूप में दिखाया गया है। 'वैदेही वनवास' भी उनका एक श्रेष्ठ महाकाव्य है। इसका कथानक अपेक्षाकृत छोटा है, इस कारण इसमें राम का शक्ति, सौंदर्य और शील समन्वित चरित्र नहीं उभर सका है, फिर भी इसका ऐतिहासिक महत्व है।

हरिऔध के काव्य में एक ओर सरल तथा प्रांजल हिंदी का अलंकार रहित सौंदर्य है, तो दूसरी ओर संस्कृत के अलंकारों से युक्त पदावली भी पाई जाती है। इनकी रचनाओं में कहीं-कही मुहावरों और बोलचाल के शब्दों का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है, तो दूसरी जगह वैसे शब्दों को छोड़ दिया गया है। द्विवेदी युग की भाषा में जो कर्कशता थी, उसमें हरिऔध जी ने सरसता दिखाई। अतः कहा जा सकता है कि खड़ी बोली को काव्य के उपयुक्त बनाने में हरिऔध जी का मुख्य हाथ है। इन्होंने दोहा, कवित्त, सवैया आदि के साथ ही संस्कृत के वर्णवृत्तों में काव्य रचना की है और इनको सभी में समान रूप से सफलता मिली है। इन्हें 'कवि सम्राट' के रूप में भी जाना जाता है। 'प्रियप्रवास' पर इन्हें हिंदी का उस काल का सर्वोत्तम पुरस्कार 'मंगलप्रसाद पारितोषिक' प्रदान किया गया था। इनकी काव्यशैली बड़ी ही भावपूर्ण है। जैसे-

प्रिय पति, वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है?
दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मैं आज लौ जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ है?

4. मैथिलीशरण गुप्त (1886-1964 ई.)–मैथिलीशरण गुप्त, द्विवेदी युग के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनका जन्म चिरगाँव, झांसी में सन् 1886 ई. में हुआ था। प्रारंभ में इनकी रचनाएँ कोलकाता से निकलने वाले पत्र 'वैश्योपकारक' में छपती थीं। बाद में इनका परिचय महावीर प्रसाद द्विवेदी से हुआ और इनकी रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं। द्विवेदी जी गुप्त जी के गुरु के समान थे। भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता होने के साथ-साथ गुप्त जी आधुनिक भारत के राष्ट्रीय कवि भी थे। इनकी प्रायः सभी रचनाएँ राष्ट्रीयता से ओतप्रोत हैं। इनकी प्रथम पुस्तक 'रंग में भंग' 1909 में प्रकाशित हुई, किंतु इन्हें प्रसिद्धि 'भारत

...से मिली जिसका प्रकाशन 1912 ई. में हुआ। 'भारत भारती' ने जनता में देश के प्रति गर्व और गौरवपूर्ण भावनाएँ ... की। इसी से ये 'राष्ट्रकवि' के रूप में प्रसिद्ध हुए। यह उपाधि इन्हें राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने प्रदान की थी। देश के ... होने पर गुप्त जी को राज्यसभा का सदस्य भी नियुक्त किया गया था। गुप्त जी मातृभूमि को केवल भूमिखंड नहीं, अपितु ...सगुण मूर्ति सर्वेश की' मानते हैं–

नीलांबर परिधान हरित पट पर सुंदर है।
सूर्य चंद्र युग मुकुट-मेखला रत्नाकर है।।
नदियाँ प्रेम प्रवाह फूल-तारे मंडन है।
बंदीजन खगवृंद शेष-फन सिंहासन है।।।
हे मातृभूमि!तु सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की ॥

मैथिलीशरण गुप्त रामभक्त कवि थे। मैथिलीशरण गुप्त कृत 'साकेत' को 'मानस' के पश्चात हिंदी में रामकाव्य का दूसरा स्तंभ माना जाता है। आधुनिक युग में प्रबंध काव्य की परंपरा को कायम रखने वालों में मैथिलीशरण गुप्त का नाम लिया जाता है। इन्होंने दो महाकाव्यों और उन्नीस खंडकाव्यों की रचना की। कविता और निजी जीवन में उन्होंने अंग्रेजी और संस्कृत को कभी अपने ऊपर हावी होने नहीं दिया और न ही उसका कभी विरोध किया। साधारण बोलचाल की खड़ी बोली का इन्होंने प्रयोग किया। गुप्त जी ने 'तिलोत्तमा', 'चंद्रहास', 'और 'अनघ' नामक तीन नाटक, प्रायः सभी प्रकार के प्रगीत और मुक्तक भी लिखे हैं। किंतु नाटकों, प्रगीतों और मुक्तकों में ये वैसी भाव सृष्टि नहीं कर पाए जैसी कि प्रबंधकाव्यों में। अतः कहा जा सकता है कि गुप्त जी मूलतः प्रबंधकार थे, अन्य साहित्य रूपों में इनकी पकड़ नहीं थी। गुप्तजी के प्रमुख काव्यग्रंथ हैं–जयद्रथ वध (1910), भारत भारती (1912), पंचवटी (1925), झंकार (1929), साकेत (1931), यशोधरा (1932), द्वापर (1936), जयभारत (1952), विष्णुप्रिया (1957) आदि।

गुप्त जी के काव्य के संबंध में यह स्मरणीय है कि उन्होंने अपने सभी काव्यों में मानवतावाद को दर्शाया है। वे निष्काम कर्म, विश्वबंधुत्व, सामाजिक समता, राष्ट्रीय चेतना एवं हिंदू-मुस्लिम एकता पर विशेष बल देते थे। उनकी कविता अपने युग का स्वच्छ दर्पण है।

5. रामनरेश त्रिपाठी (1889-1962 ई.)–रामनरेश त्रिपाठी का जन्म जिला जौनपुर के कोइरीपुर ग्राम में हुआ था। इन्होंने प्रारंभिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में ही पाई। रामनरेश त्रिपाठी के काव्य में श्रीधर पाठक की तरह स्वच्छंदता की प्रवृत्ति मिलती है। इन्होंने बहुत सारे प्रबंध काव्य लिखे हैं। विशेष बात यह है कि इनके प्रबंध काव्य पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यानों पर आधारित नहीं है। इन्होंने भी 'सरस्वती' पत्रिका के प्रभाव से खड़ी बोली को कविता की भाषा के रूप में अपनाया।

त्रिपाठी जी के चार काव्यग्रंथ प्रसिद्ध हैं–मिलन (1977), पथिक (1920), मानसी (1927) और स्वप्न (1929)। इनमें से मानसी इनकी फुटकर कविताओं का संग्रह है, जिसमें मुख्यतः देशभक्ति, प्रकृति और नीति का चित्रण है। मिलन, पथिक तथा स्वप्न काल्पनिक कथा पर आधारित प्रेमाख्यानक खंड काव्य हैं। इन तीनों में व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ को छोड़कर देश के लिए सब कुछ न्यौछावर करने की प्रेरणा दी गई है। त्रिपाठी जी ने अपनी कथावस्तु की कल्पना देश के राजनैतिक वातावरण के अनुसार की है। इस तरह की कथा की कल्पना स्वच्छंदता को दर्शाती है। इन काव्यों में नर-नारी का मनोविज्ञान, उस युग का भावबोध एवं प्रकृति की सुंदरता का वर्णन प्रभावशाली ढंग से मिलता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में, "देशभक्ति को रसात्मक रूप त्रिपाठी जी द्वारा प्राप्त हुआ।" वस्तुतः वे एक साहित्यकार के साथ-साथ स्वतंत्रता सेनानी भी थे। उन्होंने देश के प्रायः सभी भागों में भ्रमण किया था। वे ग्राम गीतों (लोक गीतों) का संकलन करने वाले हिंदी के प्रथम कवि थे। उनकी रचनाओं में भी इसका प्रभाव देखा जा सकता है। उनके काव्य 'पथिक' और 'स्वप्न' में दक्षिण एवं उत्तर भारत की प्रकृति का सुंदर वर्णन मिलता है। साथ ही वहाँ की स्थानीय विशेषताओं को भी उभारा गया है। इनके तीनों प्रबंध काव्य भारतीयों की नैतिकता, त्याग एवं बलिदान भावना को प्रदर्शित करने वाले काव्य हैं।

रामनरेश त्रिपाठी ने सरल, सुबोध, खड़ी बोली में काव्यरचना की। इससे उन्हें अपार लोकप्रियता मिली। उनकी एक प्रसिद्ध रचना का अंश देखिए–

हे प्रभो। आनंददाता! ज्ञान हमको दीजिए। शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिए।
लीजिए हमको शरण में, हम सदाचारी बनें / ब्रह्मचारी, धर्मरक्षक वीर व्रतधारी बनें।

◆◆◆

7. छायावादी हिन्दी कविता की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

अथवा

छायावाद को परिभाषित करते हुए इसकी प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन कीजिए।

उत्तर–छायावाद : परिचय एवं परिभाषा–छायावाद का आरम्भ सन् 1918 ई. और अन्त सन् 1936 ई. में माना जाता है। सन् 1918 ई. को छायावाद की आरम्भिक सीमा मानने का करण यह है कि छायावादी पद्धति की रचनाएँ इसके आस-पास प्रकाशित होने लगी थी। निराला की 'जूही की कली' (1916) के अतिरिक्त पंत की 'पल्लव' की कुछ कविताओं की रचना भी सन् 1920 ई. के आस-पास हो चुकी थी। सन् 1935 ई. में 'कामायनी' का प्रकाशन हुआ। पंत के 'युगान्त' (1936) और निराला की 'अनामिका' (1938) में अनेक ऐसी रचनाएँ संकलित हैं जो छायावाद की रूमानियत से आगे बढ़कर यथार्थ के निकट आने का प्रयास कर रही थीं। सन् 1936 ई. के आस-पास छायावादी काव्यधारा क्षीण होकर एक नये प्रकार के काव्य के आगमन की सूचना दे रही थी। इसलिए सन् 1936 ई. को छायावाद युग की आखिरी सीमा माना जा सकता है।

'छायावाद' शब्द को विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया है। इनमें से प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–"छायावादी शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में ... छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति के व्यापक अर्थ में है।"

डॉ. नगेन्द्र–"स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है।"

जयशंकर प्रसाद–"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ सहानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं।"

महादेवी वर्मा–"छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ है, अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हुआ, परन्तु उसकी सौन्दर्य दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है–यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर देना है। उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिए, क्योंकि वह स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौन्दर्य सत्ता की प्रतिक्रिया थी।"

डॉ. रामकुमार वर्मा–"छायावाद वास्तव में हृदय की एक अनुभूति है। वह भौतिक संसार के क्रोड में प्रवेश कर अनन्त जीवन के तत्त्व ग्रहण करता है और उसे हमारे वास्तविक जीवन से जोड़कर हृदय में जीवन के प्रति-एक गहरी संवेदना और आशावाद प्रदान करता है।"

छायावाद की विशेषताएँ/प्रवृत्तियाँ–वस्तुतः छायावादी काव्य रति भाव की विवृत्ति का काव्य है। छायावाद की प्रणय अनुभूति पर रीतिकालीन शृंगार-चित्रण का बहुत प्रभाव है किन्तु अभिव्यंजना की सूक्ष्मता, कल्पना की विराटता और अनुभूति की प्रगाढ़ता इसे रीतिकालीन शृंगारिक कविताओं से अलग एक विशिष्ट स्थान पर लाकर खड़ा कर देती है। काव्यशास्त्रीय मूल्यों की दृष्टि से छायावादी काव्य रससिद्धान्त के अनुरूप है और दार्शनिक दृष्टि से कर्मवाद, वेदान्त, शैव दर्शन, अद्वैतवाद आदि सिद्धान्तों को आधार बनाकर चलता है। द्विवेदीयुगीन काव्य विषयनिष्ठ, वर्णनप्रधान और स्थूल था। इसके विपरीत छायावादी काव्य व्यक्तिनिष्ठ और कल्पनाप्रधान है। छायावादी कवियों ने मनोजगत की गहराई को उर्वर कल्पनाशक्ति के सहारे व्यक्त किया है, इसीलिए उनके प्रतीक और बिम्ब सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते चले गए हैं और अभिव्यंजना पद्धति विशिष्ट और सांकेतिक होती चली गई है। छायावादी कवियों ने प्रधान रूप से प्रणय की अनुभूति को व्यक्त किया है। प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति लोक सामान्य स्तर पर हुई है। छायावादी काव्य में अनुभूति और सौन्दर्य के स्तर पर मानव और प्रकृति के भावों और रूपों का तादात्म्य दिखाई देता है। प्रसाद की अनुभूति शैव दर्शन में परिणत होती चली जाती है। निराला अद्वैत और भक्ति के क्षेत्र में साधना करते दिखाई देते हैं। पंत सृष्टि में व्याप्त मूल अक्षर सत्य को सुन्दर रूप में उद्घाटित करते हैं और महादेवी निराकार सर्वव्यापक प्रिय की भावना को ही काव्य का प्राण मानती हैं। इस तरह आध्यात्मिकता के स्तर पर सृष्टि एवं ब्रह्म के अखण्ड सौन्दर्य, आनन्द को स्वीकार करने की वजह से कर्मवाद से जुड़ जाते हैं। इसलिए यह काव्य निराशा और अकर्मण्यता के स्थान पर आशा, आत्म-विश्वास और कर्मवाद से जुड़ जाता है। काव्य-रूपों की दृष्टि से भी छायावादी काव्य अत्यन्त समृद्ध है। एक तरफ अगर गीतों, प्रगीतों एवं मुक्त छन्द

की कविताओं की अधिकता है तो दूसरी तरफ 'आँसू' एवं 'तुलसीदास' जैसे खण्डकाव्य भी मिलते हैं। 'कामायनी' महाकाव्य में छायावादी संवेदना अपनी समग्रता में मूर्तिमान हुई है। इसके अतिरिक्त 'प्रलय की छाया', 'राम की शक्तिपूजा' 'सरोजस्मृति' और 'परिवर्तन' जैसी लम्बी कविताएँ भी मिलती हैं। अभिव्यंजना की सांकेतिकता व वक्रता छायावादी काव्य शैली का वैशिष्ट्य है।

छायावादी काव्य की प्रमुख विशेषताएँ अथवा प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं–

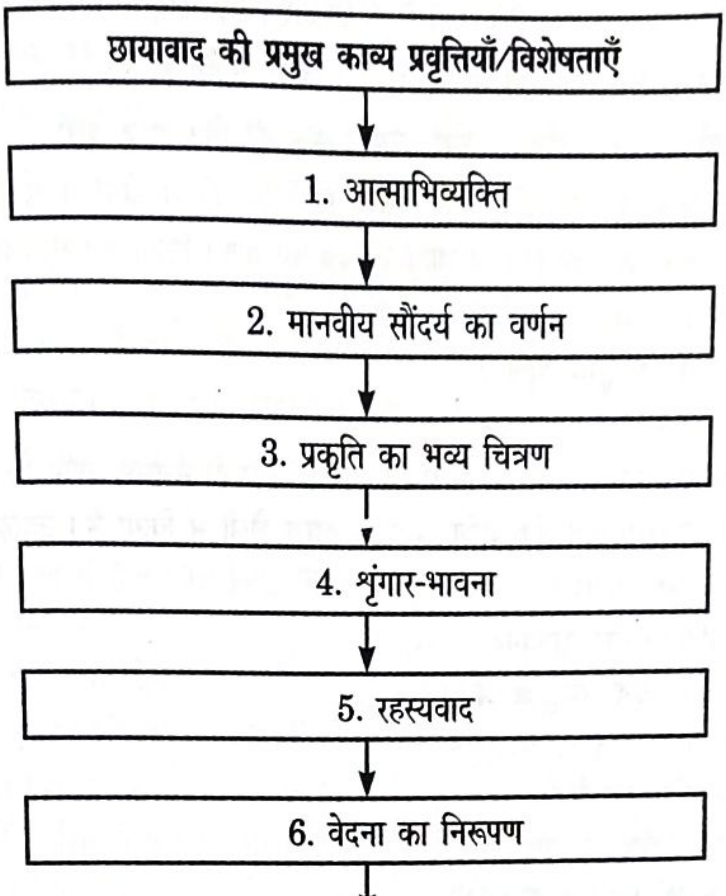

1. आत्माभिव्यक्ति–छायावादी कविता वस्तुतः द्विवेदी युगीन विषय-प्रधान कविता के विरोध में रची गई थी। फलतः इसमें कवियों ने अपने निजी सुख-दुःख से उत्पन्न अनुभूतियों को ही काव्य में निरूपित किया है। चारों ही छायावादी कवियों–जयशंकर प्रसाद, निराला, पंत व महादेवी वर्मा ने अपने हर्ष और विषाद की अनुभूति को काव्य में अभिव्यक्त किया है। कवियों के हृदय में अनुभूतियों का अक्षय भण्डार होता है और जब ये अनुभूतियाँ उसे विचलित करने लगती हैं, उसके मन को उद्वेलित करती हैं, तब उसके हृदय से जो वाणी निकलती है, वही कविता में प्रकट हो जाती है। उदाहरण के लिए आत्माभिव्यक्ति के उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

(क) जयशंकर प्रसाद– **क्या कहूँ ? क्या हूँ मैं उद्भ्रांत**
विवर में नील गगन के आज

वायु की भटकी एक तरंग
शून्यता का उजड़ा-सा राज।

(ख) महादेवी वर्मा– मैं नीर भरी दुःखी की बदली।
स्पंदन में चिर निस्पंद बसा, क्रंदन में आहत विश्व हँसा।
नयनों में दीपक जलते, पलकों में निर्झरिणी मचली।
विस्तृत नभ का कोई कोना, मेरा न कभी अपना होना।
परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल की मिट आज चली।

2. मानवीय सौन्दर्य का वर्णन–छायावादी कवियों को मनुष्य ही विश्व की सर्वश्रेष्ठ व सुन्दर कृति दिखाई देती है। उन्होंने अपने काव्य में नर, नारी व शिशु तीनों के आन्तरिक व बाह्य सौन्दर्य का वर्णन किया है। सुमित्रानंदन पंत ने तो मनुष्य को इस संसार का सबसे सुन्दर प्राणी घोषित किया है–

सुन्दर हैं विहग सुमन सुन्दर,
मानव तुम सबसे सुन्दरतम।

इसी प्रकार जयशंकर प्रसाद ने मनुष्य, विशेषकर नारी-सौन्दर्य का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है। परन्तु उसमें अश्लीलता, अतिशयता का अभाव है। उन्होंने नारी-सौन्दर्य का वर्णन अत्यन्त उदात्त शैली में किया है। उदाहरण के लिए, वे 'कामायनी' में 'श्रद्धा' के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखते हैं–

नील परिधान बीच सुकुमार
खिल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघवन बीच गुलाबी रंग।
घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास।
नील-घन-शावक के सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।

इसी प्रकार सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने भी अपने काव्य में मनुष्य, विशेषकर नारी के शारीरिक व अशारीरिक दोनों ही सौन्दर्य का वर्णन किया है। जहाँ तक महोदवी वर्मा के काव्य में मानवीय सौन्दर्य का प्रश्न है तो इस संबंध में यही कहा जा सकता है कि महादेवी जी ने मनुष्य के आन्तरिक अर्थात् भावपरक सौन्दर्य का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए–

उस असीम का सुन्दर मंदिर मेरा लघुत्तम जीवन रे।
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे।।

3. प्रकृति का भव्य चित्रण–छायावादी कवियों ने प्रकृति को विविध रूपों में चित्रित करके हिन्दी साहित्य में प्रकृति-चित्रण की परम्परा को और अधिक सजीव, सशक्त एवं समृद्ध किया है। विशेषकर कवि पंत तो प्रकृति के सच्चे उपासक रहे हैं। वे प्रकृति के प्रतिपल बदलते वेश को देखकर उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। छायावादी कवियों ने अपने प्रकृति-चित्रण में प्रकृति के लगभग सभी परम्परागत रूपों, यथा–आलम्बन रूप, उद्दीपन रूप, संवेदनात्मक रूप, मानवीकरण रूप, वातावरण-निर्माण रूप, रहस्यात्मक रूप, अलंकार-योजना रूप, प्रतीकात्मक रूप, लोक-शिक्षा रूप का दूती के रूप में चित्रण किया है। इन कवियों में से कवि पंत ने तो प्रेमिका के सान्निध्य की तुलना में प्रकृति का आश्रय लेना बेहतर माना है–

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले ! तेरे बाल-जाल में,
कैसे उलझा दूँ लोचन।

जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' में प्रकृति का मानवीकरण रूप में चित्रण करते हुए लिखा है–

अन्तरिक्ष में अभी सो रही ऊषा मधुबाला।
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला।

इसी प्रकार 'बीती विभावरी जाग री' कविता में तो उन्होंने प्रकृति-चित्रण में अपनी अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। 'लहर' काव्य-संग्रह में संकलित इस कविता की कतिपय पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं जिनमें कवि ने प्रातःकालीन दृश्य का सजीव चित्रण किया है—

खगकुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का आंचल डोल रहा
लो वह लतिका-सी भर लाई।
मधु मुकुल नवल रस गागरी।।

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य में प्रकृति-चित्रण की प्रवृत्ति समान रूप से सभी कवियों में पाई जाती है। इस काव्य में प्रकृति का भव्य चित्रण हुआ है।

4. शृंगार-भावना—भारतीय साहित्य में शृंगार के प्रति लगभग सभी कवियों ने विशेष रुचि दर्शाई है। छायावादी कवि भी इसका अपवाद नहीं हैं। छायावादी काव्य में शृंगार के उभय पक्षों का निरूपण हुआ है। इसमें कवियों ने शृंगार के संयोग-पक्ष, नारी के माँसल सौन्दर्य आदि का निरूपण किया है। उदाहरण के लिए, कवि निराला ने 'शेफालिका' कविता में शारीरिक माँसल सौन्दर्य के अनुरूप ही प्रकृति का चित्रण किया है अर्थात् उन्होंने प्रकृति को नारी रूप में दर्शाकर उसके स्थूल सौन्दर्य का इस प्रकार वर्णन किया है—

बन्द कंचुकी के सब खोल दिए प्यार से
यौवन उभार ने
पल्लव पर्यंक पर सोती शेफालिके।
मूक आह्वान भरे-लालसी कपोलों के।
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।

निराला जी की ही प्रथम कविता 'जूही की कली' में प्रकृति का मानवीकरण (नारी रूप) करके उस पर मानवीय शृंगार (संयोगावस्था के आरम्भिक चरण) का आरोप कर दिया। इस कविता की निम्न पंक्तियाँ देखिए जिसमें नारी (प्रकृति अथवा जूही की कली) के साथ उसका प्रेमी (मलयानल) प्रेम-क्रीड़ा करता है—

सोती थी
जाने कैसे प्रिय आगमन वह
नायक के चूमे कपोल
डोल उठी वल्लरी की जड़
जैसे हिंडोल।

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य में शृंगारिक चेतना का दो रूपों—अति सूक्ष्म व स्थूल रूप में चित्रण हुआ है। स्थूल-शृंगार में कहीं-कहीं अश्लीलता व माँसलता का भी चित्रण हुआ है।

5. रहस्यवाद—छायावादी काव्य में उस अव्यक्त, अगोचर, असीम चेतन-शक्ति के प्रति कवियों ने अपने जो भावोद्‌गार व्यक्त किए हैं, उसे आलोचकों ने रहस्यवाद कहा है। आचार्य शुक्ल ने अनन्त, अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर कवियों की काव्याभिव्यक्ति को ही रहस्यवाद कहा है जबकि डॉ. रामकुमार वर्मा ने उसे जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन कहा है जिसे वह दिव्य व अलौकिक शक्ति से जोड़ने का प्रयास करती है। छायावादी कवियों ने इस दृश्य जगत् में व्याप्त उस असीम, अज्ञात, अगोचर चेतन सत्ता के साथ संबंध स्थापित करने का प्रयास किया है।

उदाहरण के लिए, महादेवी वर्मा उस असीम सत्ता के साथ अपना संबंध दर्शाते हुए कहती हैं—

क्या पूजा क्या अर्चन रे!
उस असीम का सुन्दर मंदिर मेरा लघुत्तम जीवन रे!
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे!
पदरज को धोने उमड़ आते लोचन में जलकण रे!
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे!

6. वेदना का निरूपण–यद्यपि छायावादी कवियों ने सुख-दुख से उत्पन्न दोनों ही अनुभूतियों का अपने काव्य में चित्रण किया है परन्तु उन्होंने विरह-वेदना का विशेष रूप से अपने काव्य में निरूपण किया है। पंत ने तो यह स्पष्ट ही कह दिया है कि पहला कवि कोई वियोगी ही हुआ होगा और उसका विरह ही कविता बनकर प्रस्तुत हुआ होगा। इस प्रकार पंत कवि व कविता को वियोगी व विरह से जोड़कर देखते हैं। यथा–

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
वही होगी कविता अजान।

विरह और वेदना छायावादी काव्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। 'कामायनी' में प्रसाद जी अपनी विरह-वेदना को मनु के मुँह से इस प्रकार अभिव्यक्त कराते हैं–

क्या कहूँ ? क्या हूँ मैं उदभ्रांत
विवर में नील गगन के आज
वायु की भटकी एक तरंग
शून्यता का उजड़ा-सा राज।

इसी प्रकार महादेवी वर्मा का तो समूचा काव्य ही विरह-वेदना से जनित है। यद्यपि इनकी कविता में आत्माभिव्यक्ति हुई है परन्तु उसमें चित्रित वेदना व्यक्तिपरक न रहकर समष्टिपरक बन गई है। उनकी विरह-वेदना में एक गहनता है। यह विरह-वेदना प्राकृतिक, नैसर्गिक है और उसमें सिन्धु-सी अतल गहराई है। यथा–

पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुममें ढूँढूगी पीड़ा।

छायावादी काव्य में निरूपति विरह-वेदना में करुणा की प्रधानता है। यथा–

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात।
वेदना में जन्य करुणा में मिला आवास।
अश्रु चुनता दिवस इसका, अश्रु गिनती रात।
जीवन विरह का जलजात।

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य में चित्रित विरह-वेदना गांभीर्य से युक्त है, करुणा से ओतप्रोत है, उसमें नैसर्गिक भावों की सरिता बह रही है, उसमें विविध काम-दशाओं की क्रीड़ा भरी हुई है। इन कवियों को इस विरह-वेदना, पीड़ा में ही संयोग का सुख, हर्ष की सिरहन का आभास होता है।

7. मानवतावाद–छायावादी कवियों के मन में मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम है। वे जाति, धर्म देश की सीमाओं से ऊपर उठे हुए हैं। उनकी दृष्टि में विश्व के समस्त मानव समान हैं। यही कारण है कि वे मानवतावादी विचारों को अपनी कविता में निरूपित करते हैं। 'कामायनी' में जयशंकर प्रसाद अपने मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचय देते हुए लिखते हैं–

औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो
जग को सुखी बनाओ।

इन छायावादी कवियों की दृष्टि में नारी का भी उतना महत्त्व है जितना कि पुरुष का। फलतः उनका मानवतावादी दृष्टिकोण नारी की दुर्दशा को दूर करने व उन्हें सुखमय जीवन व्यतीत करते देखना चाहता है। इन कवियों ने भले ही नारी-श्रृंगार का वर्णन किया है परन्तु मानवतावादी दृष्टिकोण से उसकी महत्ता को भी स्वीकार किया है। इसीलिए जयशंकर प्रसाद लिखते हैं–

नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नभ युग तल में।
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में।

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य में प्रत्येक पुरुष, नारी, शिशु आदि के समुचित अधिकारों के लिए संदेश दिया गया है और उन्होंने जन-कल्याण, लोक-कल्याण व विश्व-कल्याण की भावना को दर्शाया है।

8. राष्ट्रीय चेतना–छायावादी कवियों ने अपने काव्य में अपनी राष्ट्रवादी भावना को भी अभिव्यक्त किया है। उनकी राष्ट्रीय चेतना कई रूपों में प्रकट होती है। एक ओर वे अपने देश के गौरवशाली अतीत का यशोगान करते हैं ताकि पराधीन भारतीय जनता में तो जातीय गौरव की भावना भरी जा सके। यथा–

वही है रक्त वही है देश
वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शान्ति, वही है शक्ति
वही हम दिव्य-आर्य-संतान।
जिएँ तो सदा इसी के लिए,
यही अभिमान रहे, यही हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व,
हमारा प्यारा भारतवर्ष।।

तो दूसरी ओर, उन्होंने अपने पौराणिक, ऐतिहासिक, महापुरुषों की वीरता, पराक्रम, दूरदर्शिता, संघर्ष करते रहने की भावना आदि का निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी मातृभूमि की वेदना, स्तुति आदि के द्वारा भी अपनी राष्ट्रीय चेतना को दर्शाया है। यथा–

भारति जय विजय करे
कनक शस्य कमल धरे।

तथा

क्लेद मुक्त अपना तन दूँगा
मुक्त करूँगा तुझे अटल।

9. अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग–छायावादी कवियों ने निस्संदेह अलंकारों का प्रयोग किया है, परन्तु उसमें चमत्कार प्रदर्शन की भावना दिखाई नहीं देती है। इस काव्य में अलंकारों का सहज, स्वाभाविक व नैसर्गिक रूप से प्रयोग हुआ है। इन छायावादी कवियों में से पंत ने तो स्पष्ट ही कह दिया कि–

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।

अतः यहाँ स्पष्ट होता है कि छायावादी कवियों की दृष्टि में भावाभिव्यक्ति ही प्रमुख थी। अतः उन्होंने अलंकारों के प्रयोग करने का विशेष प्रयास नहीं किया। परन्तु कहीं-कहीं पर कवियों ने नए उपमानों का प्रयोग करके उपमा अलंकार के प्रति अपने क्षणिक आकर्षण को अवश्य दर्शा दिया है। यथा–

खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघवन बीच गुलाबी रंग।

यहाँ पर 'बिजली के फूल' की कल्पना व उसका उपमान के रूप में प्रयोग निश्चय ही ध्यातव्य है।

निराला जी ने भी अलंकारों को काव्य के लिए नहीं माना है। वे वेदों में सुरक्षित अलंकार विहीन भाषा के सौन्दर्य के संबंध में कहते हैं–

अलंकार-लेश-रहित, श्लेष-हीन
शून्य विशेषणों से–
नग्न नीलिमा सी व्यक्त
भाषा सुरक्षित वह वेदों में आज भी।

10. बिम्बात्मकता–छायावादी काव्य में बिम्बात्मकता का गुण भी देखने को मिलता है। ये बिम्ब कवि की अनुभूति, तीव्र भावना, उत्कृष्ट वासना से परिपूर्ण हैं तथा अपनी सजीवता, सुन्दरता आदि गुणों के लिए सजीव से जान पड़ते हैं। इन बिम्बों अर्थात शब्द-चित्रों के माध्यम से छायावादी कवियों ने अपनी कविता को चित्रमयी बना दिया है। छायावादी काव्य में ऐन्द्रिय बिम्ब, वस्तुपरक बिम्ब, भाव बिम्ब व दार्शनिक बिम्ब का विधान है। यहाँ पर छायावादी काव्य में प्रयुक्त बिम्बों के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं–

(क) स्पृश्य-बिम्ब– नव वसंत के सरस स्पर्श से
पुलकित वसुधा बारम्बार।
(ख) दृश्य-बिम्ब : उन्माद यौवन के उभार,
घटा-सी नव असाद की सुन्दर
अति श्याम वरण,
श्लथ, मन्दर चरण।

11. प्रतीकात्मकता–छायावादी कवियों ने ऐसे अनेक प्रतीकों का चुनाव किया है जो सूक्ष्म भावों, रूप विशेषों, व्यापारों, आदि को अभिव्यक्त करने में पूर्णतः सक्षम हैं। इन प्रतीकों के प्रयोग से छायावादी काव्य में एक अपूर्व चमत्कार आ गया है। जयशंकर प्रसाद कृत 'कामायनी में मनु को मन के, श्रद्धा को हृदय के, इड़ा को बुद्धि के, देवगण को इन्द्रियों के प्रतीक के रूप में प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार महादेवी वर्मा ने अपने काव्य में दीपक, फूल, आकाश, दर्पण, निर्झर आदि को प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया है। यथा–निम्न पंक्तियों में दीपक को जीवन के प्रतीक के रूप में प्रयोग किया गया है–

मधुर मधुर मेरे दीपक जल।
युग युग प्रतिदिन प्रतिरक्षण प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर।

12. परिनिष्ठित, परिमार्जित खड़ी बोली का प्रयोग–छायावादी कवियों ने शुद्ध, परिनिष्ठित, परिमार्जित व साहित्यिक खड़ी बोली का अपनी काव्य रचनाओं में प्रयोग किया है। फिर भी इनकी काव्य भाषा में अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग देखा जा सकता है। परन्तु यह अवश्य कहा जाएगा कि इन कवियों ने अपनी प्रतिभा से शब्दों को नए ढंग से प्रयुक्त करके छायावादी काव्य की भाषा को कलात्मक व काव्यात्मक बनाया।

◆◆◆

2. छायावाद के प्रमुख कवियों के काव्य की विवेचना कीजिए।

अथवा

छायावाद के प्रमुख कवियों का साहित्यिक परिचय दीजिए।

उत्तर–छायावाद के प्रमुख कवि–सामान्यतः 1918 ई. से 1936 ई. तक के हिंदी काव्य को छायावाद की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। कुछ विद्वान छायावाद का आरंभ 1920 ई. से भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि द्विवेदीयुग की समय सीमा 1920 ई. तक है लेकिन चूंकि छायावादी प्रवृत्ति का काव्य 1918 ई. से ही मिलना आरंभ हो जाता है, अतः इसका आरंभ अधिकांश विद्वान 1918 ई. से ही स्वीकार करते हैं।

छायावाद के चार स्तम्भ माने जाते हैं–जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पंत और महादेवी वर्मा। इनके अतिरिक्त माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, रामनरेश त्रिपाठी, डॉ. रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, मोहनलाल महतो 'वियोगी', लक्ष्मीनारायण मिश्र, जनार्दन प्रसाद आदि की भी गणना छायावादी कवियों में होती है क्योंकि इन्होंने भी छायावादी पद्धति की कतिपय रचनाएँ लिखी हैं। परन्तु यहाँ पर हम छायावाद के चार प्रमुखतम कवियों व उनके काव्य पर विचार करेंगे।

1. जयशंकर प्रसाद

1. जयशंकर प्रसाद–जयशंकर प्रसाद का जन्म 1889 ई० में काशी में सुधनी शाहु नाम प्रसिद्ध वैश्य परिवार में हुआ। इनके पिता देवी प्रसाद साहु काव्य-प्रेमी थी। जब इनका देहांत हुआ तब प्रसाद जी की आयु केवल वर्ष की थी। फलतः जयशंकर प्रसाद की पढ़ाई बाधित हुई। इनके बड़े भाई ने व्यापार को संभालकर परिवार की दशा को सुधारा। परन्तु कुछ ही वर्षों के बाद

उनका भी देहान्त हो गया तब जयशंकर प्रसाद को पैतृक व्यापार सम्भालना पड़ा। वे दुकान पर बैठकर ही काव्य-रचना करते थे। इन्हें अपने जीवन में परिवारजनों की मृत्यु, आर्थिक संकट, पत्नी वियोग आदि कष्टों को झेलना पड़ा फिर भी वे काव्य साधना में लीन रहे। वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रतिभावन कवि थे। उन्हें छायावाद का प्रवर्त्तक कहा जाता है। उन्होंने हिन्दी साहित्य की कहानी, नाटक, उपन्यास, आलोचना आदि विभिन्न विधाओं पर अपनी लेखनी चलाई। काव्य साधना करते हुए यक्ष्मा के कारण उनका देहांत 15 नवम्बर 1937 में हुआ।

रचनाएँ–जयशंकर प्रसाद के प्रमुख काव्य ग्रंथो में 'चित्राधार', कानन-कुसुम, झरना, लहर, प्रेम-पथिक, आँसू (काव्य-संग्रह), कामायनी (महाकाव्य) आदि का नाम लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ' 'ध्रुवस्वामिनी', 'कामना', राज्य श्री और 'एक चूंट' आदि नाटकों की रचना की और उनमें भी अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय दिया। छाया, प्रतिध्वनि, इन्द्रजाल, आकाशद्वीप आदि अनेक कहानी-संग्रह हैं। कंकाल, तितली, इरावती (अधूरा) उनके उपन्यास हैं।

प्रसाद काव्य की विशेषताएँ–प्रसाद जी को छायावाद का प्रमुख स्तम्भ कहा जाता है। उनकी काव्यगत विशेषताओं में रहस्यवाद, विरहवेदना, प्रेम और सौन्दर्य, नारी के प्रति उदात्त भावना, प्रकृति चित्रण आदि का नाम लिया जा सकता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार, साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। प्रसाद की कविताओं में रहस्य भावना सहज रूप में ही मिलती है। 'कामायनी' की निम्नलिखित पंक्तियों में उनकी रहस्य भावना देखिए–

महानीत इस परम व्याम में अंतरिक्ष में ज्योतिमनी।
यह नक्षत्र और तारागण किसका करते हैं संधान।।

उनकी कविता में विरह की तीव्र वेदना का चित्रण हुआ है। आंसू में तो विरह-वेदना पग-पग पर दिखाई है। प्रसाद-काव्य की निम्नलिखित पंक्तियों में करूणा और वेदना की भावना देखिए–

इस करूणा कलित ह्दय में,
अब विकल रागिनी बजती।
क्यों हाहाकार स्वरों में,
वेदना असीम गरजती।।

प्रसाद जी के काव्य में प्रेम और सौन्दर्य की भावना का भी निरूपण हुआ है। उनका ह्दय प्रेम और सौन्दर्य की भावना से अनुप्राणित है। उन्होंने अपने काव्य में प्रेम के स्थूल और माँसल स्वरूप के स्थान पर प्रेम के अशरीरी स्वच्छ और निर्मल रूप को चित्रित किया है–

उज्जवल वरदान चेतन का,
सौंदर्य जिसे सब कहते हैं।

प्रसाद जी ने अपने काव्य में नारी के ब्रह्म रूप का चित्रण न करके उसके आंतरिक सौन्दर्य को प्रस्तुत किया है। उनकी कविता में नारी के सूक्ष्म सौंदर्य का चित्रण हुआ है। वे नारी के रूप सौंदर्य का अत्यन्त मोहक, संजीव और मार्मिक चित्रण करते हुए कहते हैं–

चचंला स्नान कर आवे, चन्द्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर थी ऐसी।।

लगभग सभी छायावादी कवियों में प्रकृति-चित्रण करने की विशेष प्रवृति पाई जाती है। प्रसाद जी ने भी अपने काव्य में प्रकृति में अनेक सुन्दर चित्र अंकित किए हैं। वे प्रकृति के कवि ही नहीं, अनुपम चित्रकार भी हैं। उन्होंने अपना सुख-दुःख, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद प्रकृति के माध्यम से व्यक्त किया है। प्रसाद जी के काव्य में चित्रित प्रकृति जड़ नहीं बल्कि चेतन है।

"बीती विभावरी जाग री,
अम्बर पनघट में डुबो रही,
ताराघर ऊषा-नागरी,
खग कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा।"

उन्होंने अपने काव्य में रस की सुन्दर योजना की है। आँसू उनकी ... शृंगार-रस का परिपाक आ है। उनके काव्य में भयानक अदभत वात्सल्य रौद्र व करुण रस का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है। उनकी कविता में भाषा चित्रमयी । उनकी काव्य-भाषा में प्रसाद, माधुर्य और ओज तीनों गुण मिलते हैं। उनकी काव्य-भाषा एवं शैली का एक सुन्दर उदाहरण–

शशि मुख पर बूंघट डाले
अचंल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में
कौतूहल में तुम आए।।

2. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' जी का जन्म बंगाल के मेदिनीपुर जिले में सन् 1896 ई. में वसन्त पंचमी के दिन हुआ था। इनके पिता का नाम पं. राम सहाय त्रिपाठी था और वे उन्नाव जिले के रहने वाले थे। वे मेदिनीपुर रियासत में नौकरी करते थे। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की शिक्षा का घर पर ही श्रीगणेश हुआ। उनकी प्रकृति में प्रारम्भ से ही स्वच्छन्दता थी। अतः वे मैट्रिक से आगे न पढ़ सके। 14 वर्ष में इनका विवाह मनोहरा देवी के साथ हो गया था। पिता जी की मृत्यु के बाद इन्होंने भी रियासत की नौकरी कर ली थी।

पिता की मृत्यु का आघात, बाईस वर्ष की अवस्था में पत्नी का स्वर्गवास, पुत्री सरोज की मृत्यु, आर्थिक संकटों, संघर्षों तथा जीवन की यथार्थ अनुभूतियों ने निराला जी के जीवन की दिशा ही मोड़ दी। अतः ये रामकृष्ण मिशन, अद्वैत आश्रम, बैनूर मठ चले गए। वहाँ इन्होंने दर्शन-शास्त्र का अध्ययन किया। इसके पश्चात् वे कलकता से प्रकाशित होने वाले 'मतवाला' साप्ताहिक पत्र के सम्पादक बने। उसके बाद ये लखनऊ आ गये तथा बाद में इलाहाबाद चले गए। अन्त तक स्थायी रूप से इलाहाबाद रहकर आर्थिक संकटों एवं अभावों की दुनिया में रहते हुए भी इन्होंने बहुमुखी साहित्य की सृष्टि की। वे गम्भीर दार्शनिक, आत्माभिमानी एवं मानवतावादी थे। करुणा, दयालुता, दानशीलता और संवेदनशीलता इनके जीवन की प्रमुख विशेषताएँ थीं। वे दीन-दुखियों और असहायों के सहायक थे। हिन्दी साहित्य का यह महारथी 15 अक्टूबर, 1961 ई. को सदा के लिए भारत भूमि को त्याग कर चला गया।

रचनाएँ–सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की प्रमुख काव्य कृतियों में **परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अनामिका, अर्चना, अणिमा, आराधना, कुकुरमुत्ता** आदि का नाम लिया जा सकता है। **अप्सरा, अलका, निरुपमा, प्रभावती, काले कारनामे** आदि उनके प्रमुख उपन्यास हैं। **सुकुल की बीवी, लिली, सखी, अपना घर, चतुरी चमार** आदि उनकी प्रमुख कहानियाँ हैं। **प्रबन्ध पद्म, प्रबन्ध प्रतिभा, प्रबन्ध परिचय, चाबुक, रवीन्द्र कानन** आदि उनके आलोचनात्मक निबंध हैं। **कुल्ली भाट, बिलेसुर, राणा प्रताप, भीष्म, महाभारत, प्रहलाद, ध्रुव, शकुन्तला** आदि उनकी अन्य गद्य कृतियाँ हैं।

निराला जी के काव्य की प्रमुख विशेषताओं में मानवतावाद, नारी व शोषितों के प्रति संवेदना, प्रकृति चित्रण आदि हैं। उनकी कविताओं में शक्ति है, शृंगार है, दार्शनिकता है, देश-प्रेम है, सामाजिक वैषम्य के प्रति विद्रोह है, मानवता के प्रति करुणा, संवेदना और टीस है, उन्माद और सिंह गर्जना है, छायावाद है, रहस्यवाद है, प्रगतिवाद है, मानवतावाद है। इसका कारण यह है कि निराला जी की काव्यधारा छायावाद से आरम्भ हुई और वह प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि के मोड़ों से गुजरती हुई सन् 1961 तक प्रवाहित होती रही। उनकी उपर्युक्त विशेषताओं को दर्शाने वाली कुछ पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं–

भारतीय विधवा का एक भावपूर्ण चित्र–

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी।
वह दीप शिखा सी शान्त, भाव में लीन।
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन–
दलित भारत की ही विधवा है।

वर्तमान पूँजीवाद के प्रति विद्रोह–

अबे, सुनबे गुलाब।
भूल मत, गर पाई खुशबू रंगो-आब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा कैपीटलिस्ट।

समाज की विषमता–

विप्लव रव से छोटे ही शोभा पाते।
अट्टालिका नहीं है रे
आतंक भवन।

निराला जी के काव्य की भाषा खड़ी बोली है। उनकी काव्य भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्राधान्य है। बंगला के प्रभाव के कारण उनकी छायावादी कविता की काव्य-भाषा में संगीतात्मकता का गुण भी विद्यमान है। परंतु कहीं-कहीं समासान्त-पदावली तथा क्लिष्ट पद-योजना के कारण उनकी काव्य-भाषा दुरूह हो गई है। परंतु उनकी प्रगतिवादी कविताओं की भाषा सरल और बोधगम्य है। उनकी कविताओं में उर्दू, फारसी तथा अंग्रेजी शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।

निराला जी के काव्य में अतुकान्त गीत शैली का प्रयोग हुआ है, जो बंगला शैली से प्रभावित है। उनकी काव्य-भाषा ओज एवं प्रभावपूर्ण है। उनके काव्य में शृंगार तथा वीर-रसों का प्राधान्य है। उनकी दार्शनिक रचनाओं में कहीं-कहीं शान्त रस का भी परिपाक हुआ है। छन्द योजना की दृष्टि से **निराला जी** हिन्दी में **मुक्तक छन्द के प्रवर्तक** कहे जाते हैं। निराला जी ने अपने काव्य में अनुप्रास, उपमा, रूपक, सन्देह आदि अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है। निराला जी ने उपमाओं के लिए नवीन उपमानों का सृजन किया है।

3. सुमित्रानन्दन पन्त

पंत जी का जन्म अल्मोड़ा की प्राकृतिक सुषमा में स्थित कोसानी ग्राम में 20 मई, 1900 ई. में हुआ। इनके पिता का नाम पं. गंगादत्त था। इनके जन्म के कुछ घण्टों के बाद ही इनकी माता सरस्वती का निधन हो गया। अतः इनका जीवन प्रकृति की सुरम्य गोद में ही बीता। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा वाराणसी में तथा बाद में इलाहाबाद के 'म्योर सेंट्रल कॉलेज' में हुई। 1921 ई. के असहयोग आदोलन में उन्होंने कॉलेज छोड़ दिया और साहित्य साधना को ही जीवन का ध्येय बना लिया।

इन्होंने उपनिषद्, दर्शन, बंगला और अंग्रेजी साहित्य का गहन अध्ययन किया। प्रकृति की गोद में पले पंत जी मृदुल, शिष्टभाषी, सहृदय और सौन्दर्यप्रिय कवि थे। उन्होंने प्रकृति का आकर्षक और सूक्ष्म चित्रण किया है। हिन्दी साहित्य में इनका वही स्थान है जो अंग्रेजी साहित्य में 'वर्डसवर्थ' का। सन् 1977 में उनका देहान्त हो गया।

रचनाएँ–सुमित्रानन्दन पन्त की काव्य-यात्रा सुदीर्घ है। उनकी प्रमुख काव्य रचनाओं में **वीणा, ग्रन्थि, पल्लव, गुंजन, ग्राम्या, स्वर्णकिरण, युगान्त, उच्छ्वास, कला और बूढ़ा चाँद, चिदम्बरा, लोकायतन, युगवाणी** आदि का नाम लिया जा सकता है। **'चिदम्बरा'** पर उन्हें एक लाख रुपये का **ज्ञानपीठ पुरस्कार** मिला। पन्त जी प्रकृति के सुकुमार कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। परंतु उन्हें प्रकृति का सुकुमार और मधुर रूप ही प्रिय है, भयंकर रूप नहीं। उनके काव्य में प्रकृति जड़ मात्र न होकर सचेतन है। वे प्रकृति के इतने बड़े उपासक हैं कि प्रकृति की रमणीयता छोड़कर बाला के बाल-जाल में भी उनके नेत्र नहीं उलझते–

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति की भी माया।
बाले तेरे बाल-जाल में,
कैसे उलझा दूँ लोचन,
छोड़ अभी से इस जग को।"

प्रकृति-प्रेम ने उनके हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न की। वे पहले छायावादी और फिर रहस्यवादी हो गए। प्रकृति के विराट-सौन्दर्य ने उनके हृदय में अज्ञात आकर्षण को जन्म दिया। वे बाल विहंगिनी से प्रथम रश्मि के आगमन का रहस्य पूछते हुए कहते हैं–

प्रथम रश्मि का आना ;
रंगणि तूने कैसे पहचाना।
कहाँ-कहाँ हे बाल विहंगम,
पाया तूने वह गाना।।

पंत जी नारी मर्यादा के पोषक भी हैं। उनके काव्य में नारी के प्रति अपार स्नेह-सम्मान झलकता है। वे नारी को पूज्य एवं पावन मानते हैं तथा उन्होंने नारी-हृदय को ही स्वर्ग माना है–

यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर
तो वह नारी उर के भीतर,

दल पर दल खोल हृदय के स्तर
जब बिठलाती प्रसन्न होकर,
वह अमर प्राण के शतदल पर !

आगे चलकर पंत जी के काव्य में प्रगतिवादी स्वर भी मुखरित हुआ है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण दिखाई देता है। वे मार्क्सवाद की ओर भी आकर्षित हुए। सामाजिक असमानता को देखकर कवि हृदय रो पड़ता है। वे वर्ग-हीन समाज की कल्पना करते हुए कहते हैं–

श्रेणी में मानव नहीं विभाजित,
धन बल से हो जहाँ न जन-जन शोषण।

उनकी प्रगतिवादी रचनाओं में मानवतावादी विचारों की झलक मिलती है। जैसे–

इसमें मानव समता के दाने बोने हैं,
जिससे उगल सके फिर धूल सुनहली फसलें
मानवता की- जीवन श्रम से हँसें दिशाएँ।

पंत जी की अनेक कविताओं में अव्यक्त सत्ता के प्रति जिज्ञासा तथा मिलन इच्छा का भाव भी दिखाई देता है। यथा–

स्तब्ध ज्योत्सना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अंजान,
न जाने नक्षत्रों से कौन ?
निमंत्रण देता मुझको मौन।

आगे चलकर कविवर पंत पर अरविन्द-दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा। 'स्वर्ण धूलि', 'स्वर्ण किरण' आदि काव्य-रचनाओं में कवि ने अरविन्द-दर्शन की आध्यात्मिक चेतना को प्रकट किया है। उदाहरण के लिए–

सृजन करो नूतन मन !
खोल सके जो ग्रन्थि हृदय की,
उठा सके जो सूक्ष्म नयन से,
आँक सके जो सूक्ष्म नयन से,
जीवन का सौन्दर्य गहन !

उनके काव्य में प्रेम के अनुभूतिपूर्ण चित्र मिलते हैं। किन्तु उनका प्रणय वर्णन स्थूल न होकर सूक्ष्म और माँसल न होकर काल्पनिक है। उनके काव्य में नारी दिव्य-लोक की अप्सरा के समान चित्रित है। उदाहरण के लिए–

विन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त
एक कलिका में निखिल बसन्त।

सभी विद्वानों, आलोचकों ने माना है कि पंत जी सुकुमार एवं कोमल कल्पना के कवि हैं। उनकी कोमलता के आवरण में प्रस्फुटित हुई कल्पना में वेदना की भावना है–

कल्पना में सिसकती वेदना,
अश्रु में जीता सिसकता गान है।

छायावादी कवि के रूप में पंत जी ने अपने काव्य में शृंगार रस का निरूपण किया है। किन्तु उनका शृंगार वर्णन प्राचीन परम्परा से थोड़ा भिन्न है। उनके शृंगार-वर्णन में उनकी रुचि सर्वत्र कोमल, परिमार्जित, संयत और उदात्त रही है। उनके 'ग्रन्थि' काव्य में संयोग और वियोग शृंगार के भावमय चित्र अंकित हैं। उनकी कुछ कविताओं में अलौकिक कार्य-व्यापार को दिखाने से अद्भुत-रस की निष्पति हुई है। उनकी दार्शनिक रचनाओं में शांत रस है। **'परिवर्तन'** कविता के अन्तर्गत रौद्र और भयानक रसों का परिपाक है।

पंत जी के काव्य का कला-पक्ष भी भाव-पक्ष की तरह ही पूर्ण और सफल है। उनकी काव्य-कला कोमल, कमनीय और सुकुमार है। वे खड़ी बोली के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि हैं। उनकी काव्य-भाषा संगीत के निकट है। उनकी काव्यभाषा में माधुर्य, चित्रमयता, संगीतात्मकता, कोमलता आदि गुण विद्यमान हैं। उनका मानना है–"चित्र भाषा शब्दों में भी चित्रमय शब्द होते हैं।" वे शब्दों के द्वारा ही अपने भावों, मुद्राओं और वस्तुओं का चित्र उपस्थिति कर देते हैं। उदाहरण के लिए–

बाँसों का झुरमुट
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
करती टी बी टी टुट-टुट।

पंत बहुत बड़े शब्दशिल्पी हैं। उन्होंने अंग्रेजी, ब्रजभाषा, फारसी, उर्दू आदि भाषाओं के शब्दों को उपने अनुकूल बना लिया है। उनकी भाषा संस्कृत-गर्भित होते हुए भी कोमल, सरस एवं प्रांजल है। उन्होंने 'पल्लव' की भूमिका में कहा है–**"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं।"** उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही प्रकार के अलंकारों को ग्रहण किया है। यथा–

यमक–

तरणि के ही संग तरल तरंग में
तराणि डूबी थी हमारी ताल में।

पंत जी के काव्य की छन्द-योजना अत्यन्त विशद, व्यापक एवं सार्थक है। उन्होंने प्राचीन छन्दों को काँट-छाँट कर नये छन्दों का निर्माण किया है और मुक्तक छन्दों का प्रयोग किया है। उनके काव्य में एक ओर रूपमाला, सखी, रोला, चौपाई आदि प्राचीन छन्द प्रयुक्त हुए हैं तो दूसरी ओर उसमें पश्चिम के ढंग के छंदों का प्रयोग किया गया है। उन्होंने प्रगतिवादी कविताओं में छन्द-विधान से अपने को मुक्त कर लिया है अर्थात् वे मुक्तक छन्द में रचित हैं।

पंत जी ने हिन्दी-काव्य में नवीन विचार और नई काव्य-विचारधारा का प्रवर्तन किया। वे जागरूक साहित्यकार और सफल कलाकार हैं। उन्होंने आधुनिक हिन्दी कविता में एक नये युग का निर्माण किया है।

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रकृति के कोमल रूप के उपासक पंत जी हिन्दी साहित्य में अपनी सुकुमार भावनाओं और कोमल कल्पनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। प्रकृति के वे अनुपम चित्रकार हैं। पंत जी छायावाद के प्रमुख कवि हैं; वे प्रगतिवाद के समर्थक हैं और महान् चिन्तक भी हैं।

4. महादेवी वर्मा

कवयित्री महादेवी वर्मा का जन्म सन् 1907 ई. में उत्तर प्रदेश के फर्रूखाबाद नामक स्थान पर हुआ था। इनकी शिक्षा इन्दौर के मिशन स्कूल में हुई। नौ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह डॉ. स्वरूप नारायण से कर दिया गया। विवाह के पश्चात् भी इनकी शिक्षा का क्रम चलता रहा। सन् 1929 में इन्होंने संस्कृत में एम.ए. की परीक्षा-उत्तीर्ण की। परन्तु इनका वैवाहिक जीवन अधिक सुखमय नहीं रहा। इसी कारण इन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर भिक्षुणी बनना चाहा, परंतु महात्मा गाँधी की प्रेरणा से वह समाज-सेवा के कार्य में लग गईं।

स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में इन्होंने विशेष कार्य प्रारम्भ किया। वे प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्राध्यापिका बनीं और महादेवी कन्या पाठशाला, देहरादून की स्थापना में अपना योगदान दिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद वे उत्तर-प्रदेश विधान-परिषद् की मनोनीत सदस्या बनीं। भारत सरकार ने इन्हें 1956 ई. में 'पद्म भूषण' की उपाधि से अलंकृत किया। 1960 ई. में वे प्रयाग महिला विद्यापीठ की कुलपति बनीं। उन्हें **'यामा'** व **'दीप-शिखा'** पर **ज्ञानपीठ पुरस्कार** भी प्रदान किया गया। 11 सितम्बर, 1987 को इलाहाबाद में इनका देहान्त हो गया।

महादेवी वर्मा के काव्य-संग्रहों में **नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्य गीत, दीप-शिखा, सप्तवर्णा** के नाम प्रमुखता के साथ लिए जा सकते हैं। 'यामा' में उनके पूर्ववर्ती काव्य-संग्रहों (नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्य गीत, दीप-शिखा) की कविताएँ संकलित हैं। **शृंखला की कड़ियाँ, स्मृति की रेखाएँ, अतीत के चलचित्र, मेरा परिवार, पथ के साथी** आदि उनकी गद्य रचनाएँ हैं।

महादेवी वर्मा का सम्पूर्ण काव्य प्रेम भावना से ओत-प्रोत [illegible] डूब जाती है तो उनका व्यक्तिगत प्रेम संकीर्ण धरातल से उठकर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो जाता है। परन्तु उनका प्रेम शारीरिक न होकर सात्विक, उदात्त एवं अलौकिक है। निम्न पंक्तियों में प्रभु को अपनी आत्मा में पूर्णतः साकार करके उनका हृदय कह उठता है-

क्या पूजा क्या अर्चन रे !
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे !
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे !

महादेवी का काव्य विरह-वेदना से अनुप्राणित है। उनके लिए वियोग अवस्था मिलन-अवस्था से अधिक सुखकर है। उनके काव्य में वेदना से उत्पन्न आनन्द, वेदना का सौन्दर्य और वेदना के प्रति आत्म-समर्पण आदि भावों का निरूपण हुआ है। वे दुःख को जीवन की स्फूर्ति, प्रेरणा तत्त्व मानती हैं। वे पीड़ा में ही परमात्मा को पाती हैं तथा परमात्मा में भी पीड़ा को ही ढूँढ़ना चाहती हैं-

तुमको पीड़ा में ढूँढा, तुममें ढूँढूँगी पीड़ा।

महादेवी जी के काव्य में विरह-वेदना के अतिरिक्त रहस्यवादिता, प्रकृति चित्रण, संगीतात्मकता आदि प्रमुख विशेषताएँ भी पाई जाती हैं। महादेवी प्रिय परमात्मा को अपने से अभिन्न मानती हैं तथा उनकी आत्मा उस प्रियतम से मिलने के लिए आतुर रहती है-

जो तुम आ जाते एक बार।
गाता प्राणों का तार-तार।

अन्य छायावादी कवियों की भाँति महादेवी जी ने भी अपने काव्य में प्रकृति के विविध रूपों का चित्रण किया है जिनमें प्रकृति का उद्दीपन रूप, आलम्बन रूप, मानवीकरण आदि प्रमुख हैं। उन्होंने अपने काव्य में प्रकृति पर चेतना का आरोप किया है और उसके साथ विविध मधुर संबंधों की कल्पनाएँ की हैं-

रजनी ओढ़े जाती थी
झिलमिल तारों की जाली,
उसके विखरे वैभव पर
जब रोती थी उजियाली।

महादेवी वर्मा जी ने अपने काव्य में तत्समपूर्ण शुद्ध खड़ी बोली का प्रयोग किया है। उनकी काव्य भाषा की प्रमुख विशेषताओं में लाक्षणिकता, चित्रमयता, कल्पना, भाषा की कोमलता और संगीतात्मकता आदि का नाम लिया जा सकता है। प्रतीकात्मकता उनकी भाषा की एक अन्य प्रमुख विशेषता है। उनके काव्य में बादल व दीपक को प्रतीक के रूप में अधिक अपनाया गया है। उन्हें शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकार, यथा–उपमा, उत्प्रेक्षा, विभावना, अन्योक्ति आदि अधिक प्रिय रहे हैं। महादेवी वर्मा हिन्दी साहित्य जगत की अमर कलाकार हैं। हिन्दी जगत में वे 'आधुनिक मीरा' के नाम से विख्यात हैं।

◆◆◆

4. प्रगतिवाद

9. प्रगतिवादी साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

अथवा

प्रगतिवाद की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–प्रगतिवादी साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ/प्रवृत्तियाँ–सामान्यतः हिन्दी साहित्य में 1936 ई. से 1943 ई. तक का कालखंड प्रगतिवाद के नाम से जाना जाता है। इस अल्पकालीन कालखंड का प्रारंभ भारत में हुई प्रगतिशील लेखक संघ की प्रथम बैठक (1936) से हुआ जिसकी अध्यक्षता मुंशी प्रेमचंद ने की। प्रगतिवाद पर एक ओर जहाँ प्रगतिशील लेखकों एवं मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव है, वहीं यह काव्यधारा भारत में छायावाद की प्रतिक्रिया से भी उत्पन्न मानी जाती है। विभिन्न कवियों एवं लेखकों ने इस काव्यधारा के विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं। **कविवर सुमित्रानंदन पंत** के शब्दों में–**"काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के नग्न रूप से सहम गई है अतएव इस युग की कविता सपनों में नहीं पल सकती। इसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।"**

शिवदान सिंह चौहान लिखते हैं–**"प्रगतिवाद साहित्य की वह धारा है, जो पूंजीवादी साहित्य और कला की सारी कामयाबियों और सजीव परम्पराओं को ग्रहण कर एक नये जनसाहित्य का निर्माण करती है।"** वे पुन कहते हैं–**"प्रगतिवाद साहित्य की धारा ही नहीं, साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण है।"**

कृष्ण लाल हंस लिखते हैं–**"जो साहित्य प्रतिक्रियावादी, पूंजीवादी प्रवृत्ति, मनोवृत्ति और व्यवस्था का विरोधी है, वही प्रगतिवादी साहित्य है।"**

डॉ. रणजीत के अनुसार–**"प्रगति के संबंध में मार्क्सवादी धारणा ही मुख्यतः हिन्दी की प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि है। मार्क्सवाद एक प्रकार का नया और वैज्ञानिक मानववाद है, जिसे राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में समाजवाद और साम्यवाद, दर्शन के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक वस्तुवाद और समाजशास्त्र तथा इतिहास के क्षेत्र में ऐतिहासिक वस्तुवाद कहा जाता है।"**

डॉ. रामदरश मिश्र प्रगतिवाद की परिभाषा देते हुए लिखते हैं–**"यह नाम प्रगतिवाद उस काव्यधारा का है जो मार्क्सवादी दर्शन के आलोक में सामाजिक चेतना और भावबोध को अपना लक्ष्य बना कर चली।"**

प्रगतिवादी काव्य परम्परा में बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन', माखन लाल चतुर्वेदी, रामधारीसिंह 'दिनकर', नागार्जुन, रांगेय राघव, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, नरेन्द्रशर्मा, भगवती चरण वर्मा आदि के नाम गिनवाये जा सकते हैं। इन कवियों के अतिरिक्त गोपाल सिंह नेपाली, शिवमंगल सिंह 'सुमन', रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द्र जैन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेरसिंह बहादुर, जयनाथ नलिन, विद्याभास्कर 'अरुण', महेन्द्र भटनागर, देवराज दिनेश, मुक्तिबोध, त्रिलोचन आदि कवियों के नाम गिनवाए जा सकते हैं।

चूंकि प्रगतिवाद छायावाद के कोमल स्वप्नों को यथार्थ की कटुता से छिन्न-भिन्न कर प्रकट हुआ है। इसलिए प्रगतिवादी साहित्य जीवन के अधिक निकट है। प्रगतिवादियों ने समाजोन्नति और नव-निर्माण के लिए सर्वप्रथम सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार किया है। युगों से चली आ रही धार्मिक रूढ़िवादी मान्यताओं का तिरस्कार कर शोषितों और पीड़ितों की करुणा का आख्यान प्रगतिवाद का मुख्य स्वर है। प्रगतिवादी साहित्य की प्रमुख विशेषताएं अथवा प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित की जा सकती हैं–

प्रगतिवादी काव्य की विशेषताएं/प्रवृत्तियाँ

↓

1. सामाजिक यथार्थ का वर्णन

↓

2. युगीन चेतना का उद्घाटन

↓

3. शोषित वर्ग की दीनता का वर्णन

↓

4. शोषक वर्ग के प्रति घृणा व आक्रोश

↓

5. धर्म का विरोध

↓

6. समाज के निर्माता पर बल देना

↓

7. क्रांति और विद्रोह की भावना

↓

8. नारी भावना

↓

9. अभिव्यंजना शिल्प

1. सामाजिक यथार्थ का वर्णन–प्रगतिवादी साहित्य में सामाजिक यथार्थ को विशेष महत्त्व दिया गया है। ये कवि सामाजिक यथार्थ का वर्णन करने में सफल रहे हैं। निराला और पंत ने प्रगतिशील शक्तियों में आस्था रखते हुए प्राचीन जर्जर व्यवस्था के विरुद्ध अपनी वाणी मुखरित की है और नवनिर्माण का स्वागत किया है। ये कवि सामाजिक और आर्थिक विषमता को हटाने के लिए संघर्ष को आवश्यक मानते हैं। पंत ने अपनी कविता **'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र'** में विगतयुग की रूढ़ियों के विनाश की कामना की है और नवनिर्माण पर बल दिया है। वे कहते भी हैं–

"कंकाल-जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर पल्लव लाली।
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली।।"

निराला ने तो सामाजिक अव्यवस्था से उत्पन्न भयावह परिस्थिति का चित्रण किया है। वे ऐसी परिस्थितियों को देखकर समाज की व्यवस्था बदलना चाहते हैं जहाँ पर धनवान मनुष्य तो मनचाहा खाना खाकर शेष भोजन को सड़क पर फेंक दे जबकि दूसरी ओर गरीब मनुष्य को उसी बचे व फेंके गए भोजन को पाने के लिए कुत्तों से भी संघर्ष करना पड़े। यथा–

"साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए।
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते
और दाहिना दया दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।
चाट रहे जूठी पत्तल वे सभी सड़क पर खड़े हुए
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।"

प्रगतिवादी कवि सामाजिक और आर्थिक विषमता का विरोध करता है और वर्तमान व्यवस्था के प्रति असंतोष तथा विद्रोह की भावना को उत्पन्न करने का प्रयास करता है। यह समाज के वर्ग वैषम्य, आर्थिक विषमता और पूंजीपतियों के शोषण के विरुद्ध अपने स्वर को मुखरित करता है। उदाहरण के रूप में, केदारनाथ अग्रवाल 'चित्रकूट के यात्री' नामक कविता में भारतीय समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता के दोष को व्यक्त करते हुए कहते हैं–

"चित्रकूट के बॉड़म यात्री, सतुआ, गुड़ गठरी में बांधे,
गठरी को लाठी पर साधे, लाठी को काँधे पर टाँगे,
दिन भर अधरम करने वाले, पर नर को निगलने वाले,
पर सम्पत्ति को हरने वाले।"

2. युगीन चेतना का उद्घाटन–सामाजिक यथार्थ का वर्णन करने के लिए युगीन चेतना की अभिव्यक्ति अत्यन्त जरूरी है। सामाजिक संघर्ष में आधुनिक साहित्य ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यही कारण है कि प्रगतिवादी कवियों ने बंगाल का अकाल, द्वितीय महायुद्ध, नौसैनिक विद्रोह, आजाद हिन्द फौज, स्वतन्त्रता संग्राम, भारत-पाक विभाजन, गाँधी जी बर्बर हत्या, कश्मीर समस्या जैसे युगीन चेतना के प्रश्नों को उठाया है और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। बंगाल के अकाल का चित्र खींचते हुए शिव मंगल सिंह 'सुमन' लिखते हैं–

"निपट दुधमुँहे बच्चे सूखी छाती से आसक्त
चूस रहे माँ के जीवन का बचा-बचाया रक्त।।"

महात्मा गाँधी की मृत्यु पर प्रगतिवादी कवि लिखता है–

"बापू मेरे अनाथ हो गई भारतमाता, अब क्या होगा।"

प्रगतिवादी कवियों ने यह अनुभव किया कि गाँव में शोषण व अत्याचार की अधिकता के कारण तथा शहरों में काम मिलने की संभावना को देखते हुए गांवों के लोग शहरों की ओर पलायन तो कर रहे हैं, परन्तु वे शहरों में आकर नारकीय जीवन व्यतीत करते हैं। उसका चित्रण करते हुए केदारनाथ अग्रवाल लिखते हैं–

"कुली मजदूर हैं बोझ ढोते हैं खींचते हैं ठेला
धूल धुआँ भाव से पड़ता है पाला
थके माँदे जहाँ-तहाँ हो जाते ढेर
सपने में भी सुनते हैं धरती की धड़कन।"

इसी प्रकार जब विश्व की राजनीति में मानवता को अन्याय और अत्याचार का शिकार होना पड़ा तब भी प्रगतिवादी कवियों ने विद्रोहात्मक स्वर में उसका विद्रोह किया। हिरोशिमा का नाश, स्वेज नहर का झगड़ा, कोरिया युद्ध, कश्मीर पर पाकिस्तान का अतिक्रमण आदि कुछ युगीन समस्याएं थीं जिस पर समय-समय पर प्रगतिवादी कवियों ने अपनी वाणी को मुखरित किया। पंत जी ने ग्रामीण जीवन की अव्यवस्था को अपनी आँखों से देखा। उन्होंने अनुभव किया कि वर्तमान अर्थव्यवस्था के कारण ग्रामीण जीवन नरक तुल्य बन चुका है। जो लोग दूसरों के जीवन को खुशहाल बना रहे हैं वे स्वयं घास-फूस की झोंपड़ियों में रहने के लिए मजबूर हैं–

"यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित
यह भारत की ग्राम सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित
झाड़-फूल के विवर, यही क्या जीवन-शिल्पी के घर
कीड़े से रेंगते कौन थे? बुद्धि प्राण नारी-नर।।"

3. शोषित वर्ग की दीनता का वर्णन–लम्बे काल से हमारा समाज शोषक और शोषित दो वर्गों में विभक्त हो चुका है। शोषक वर्ग निजी स्वार्थों की पूर्ति करने के लिए शोषित वर्ग का प्रत्येक दृष्टि से शोषण करता रहा है। यह शोषण मानव जीवन के लिए घोर अभिशाप है। साम्यवादी व्यवस्था उसका निवारण करना चाहती है। समाज के किसान तथा मजदूर जैसे पीड़ित लोग शोषण की चक्की के पाटों में निरन्तर पिस रहे हैं। उनकी पीड़ा और व्यथा को देखने वाला कोई नहीं। दलितों की दीन दशा पर आंसू बहाते हुए अंचल लिखते हैं–

"यह नस्ल जिसे कहते हैं मानव कीड़ों से आज गई बीती।
बुझ जाती तो आश्चर्य न था हैरत पर कैसे जीती।"

बंगाल के अकाल पर निराला लिखते हैं–

"बापू बेटा बेचता है भूख से बेहाल होकर
धर्म धीरज प्राण खोकर हो रही अनीति बर्बर राष्ट्र सारा देखता है।"

इस प्रकार उनका 'भिक्षुक' का दयनीय वर्णन–

"वह आता।
दो टूक कलेजे के करता
पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक।।"

इस प्रकार प्रगतिवादी कवि शोषितों, अत्याचारों से पीड़ित किसानों, मजदूरों, निम्न वर्ग के पीड़ित मजदूरों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं। समाज के उपेक्षित तथा पिछड़े वर्ग को वे सर्वहारा वर्ग कहते हैं। उनका कहना है कि यह सर्वहारा वर्ग ही देश और समाज का सच्चा निर्माता है। किसान दूसरों को भोजन देने के लिए अन्न उत्पन्न करता है, परन्तु स्वयं भूखा रहता है। वह बेघर होकर घास-फूस की झोंपड़ियों में समय काटता है। लगभग यही स्थिति मजदूर की है। कलाकार भी दूसरों के लिए कलाकृतियाँ बनाता है तथा स्वयं उसका लाभ नहीं उठा पाता।

4. शोषक वर्ग के प्रति घृणा व आक्रोश–प्रगतिवादी कवियों ने अपनी काव्य रचनाओं में शोषक वर्ग को घोर स्वार्थी, क्रूर एवं कपटी चित्रित किया है। व्यापारी, बड़े-बड़े जमींदार, उद्योगपति, सभी का सम्बन्ध शोषक वर्ग से है। ये लोग भाग्यवाद के नाम पर पूंजीवादी व्यवस्था को बनाए रखना चाहते हैं। प्रगतिवादी कवियों का विश्वास है कि जब तक पूंजीवादी सभ्यता का अन्त नहीं हो जाता, तब तक देश में समाजवाद की स्थापना नहीं हो सकती। इन कवियों का यह भी विचार है कि पूंजीपति मजदूरों एवं किसानों का शोषण करता है। वह तो केवल पूंजी लगाता है जबकि मजदूर तो अपना खून-पसीना बहाकर फसल, सामान आदि को उत्पन्न करता है। परन्तु उससे होने वाले लाभ का सारा अंश पूंजीपति के पास चला जाता है। इस प्रकार पूंजीपति और भी धनवान होता जाता है जबकि किसान व मजदूर उतने ही निर्धन होते जाते हैं। 'निराला' अपनी कविता 'कुकुरमुत्ता' में गुलाब को पूंजीपति व्यवस्था का तथा कुकुरमुत्ता को सर्वहारा वर्ग का प्रतीक बनाकर पूंजीवादी व्यवस्था पर कड़ा प्रहार करते हुए करते हैं–

"अबे, सुन बे गुलाब
भूल मत जो पायी है खुशबु, रंगों आब

खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतना रहा है कैपिटलिस्ट
बहुतों को तूने बनाया है गुलाम
माली कर रक्खा, खिलाया जाड़ा घाम।"

इसी प्रकार रामधारी सिंह 'दिनकर' जैसे राष्ट्रवादी कवि भी सामाजिक विषमता को देखकर चुप न रह सके। उन्होंने तो पूंजीपतियों को लुच्चे, डुच्चे तथा उल्लु के बच्चे तक कह दिया है। एक स्थल पर वे समाज के शोषित वर्ग की व्यथा को व्यक्त करते हुए कहते हैं–

"श्वानों को मिलता वस्त्र, दूध भूखे बालक अकुलाते हैं।
मां की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती की लज्जा वसन बेच, जब ब्याज चुकाए जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं।
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमन्त्रण।"

परवर्ती प्रगतिवादी कवियों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, धूमिल, मुक्तिबोध आदि ने शोषकों के प्रति अपनी घृणा को व्यक्त किया है। भगवतीचरण वर्मा तो कहते हैं कि साम्राज्यवाद की नींव भूखे तिल-तिल मरने वाले मजदूरों के परिश्रम पर टिकी हुई है-

"यह राजकाज जो सधा हुआ है, इन भूखे कंगालों पर
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी है, तिलतिल मिटने वालों पर
वे व्यापारी, वे जमींदार, जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त
वे निपट निरामिष सूदखोर पीते मनुष्य का ऊष्म रक्त।"

5. धर्म का विरोध–प्रगतिवादी कवियों का विचार है कि पूंजीपति वर्ग धर्म तथा पूंजी की आड़ लेकर शोषक वर्ग का शोषण करता है। ये कवि धर्म और ईश्वर में आस्था नहीं रखते। उनका कहना है कि ईश्वर सृष्टि का कर्ता नहीं है, बल्कि भौतिक द्वन्द्व के कारण सृष्टि का विकास हुआ है। अनादि काल से लोगों को धर्म की अफीम खिलाई जा रही है और पंडे, मुल्ला तथा महात्मा लोगों का शोषण कर रहे हैं। उनकी दृष्टि में धर्म तथा उसके साधन, मंदिर और मस्जिद, गीता और कुरान आदि का कोई महत्त्व नहीं है। उनका कहना है कि धर्म लोगों में अंधविश्वास पैदा करता है और लोग भाग्यवादी बन जाते हैं। इन कवियों का कहना है कि ईश्वर जैसी कोई आलौकिक शक्ति नहीं है। ये किसी जाति-प्रथा, वर्ण-भेद को नहीं मानते–

"अरे चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को
उस दिन सोचा-क्यों न लगा दूं आग इस दुनिया भर को।
यह भी सोचा-क्यों न टेंटुआ फोरा जाये स्वयं जगत्पति का
जिसके अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का।"

एक अन्य प्रगतिवादी कवि कहते हैं–

"छुरी बगल में मुँह में राम
हिन्दू और अहले इस्लाम
करें दूर से तुम्हें सलाम।
बनो महन्त लगे न दाम
घर बन जाये पांचवां धाम।
ध्वनि से गूंज उठे नगर तमाम
रघुपति राघव राजा राम।"

वस्तुतः ईश्वर धर्म में इन कवियों का कोई विश्वास नहीं है। कवि केदारनाथ अग्रवाल का स्पष्ट कहना है कि भगवान तो पत्थर है जो युगों से हमारे विकास के कार्यों को रोके है। इसे तोड़ने में ही हमारी भलाई है। इसलिए कवि कहता है–

"पत्थर के सिर पर दे मारो अपना लोहा
वह पत्थर जो राह रोककर पड़ा हुआ है।
जो टूटने के घमंड में अड़ा हुआ है।"

6. समाज के निर्माण पर बल–प्रगतिवादी कवि का चिंतन है कि समय परिवर्तनशील है। समय के साथ मानवजीवन और समाज के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन होना आवश्यक है। परन्तु पूंजीपति वर्ग शाश्वत सत्य को स्वीकार नहीं करता। वह चाहता है कि गरीब गरीब ही बना रहे और उसकी पूंजी में वृद्धि होती जाए। हमारे देश की जनता रूढ़ियों, अंधविश्वासों, गली-सड़ी मान्यताओं का शिकार बनी है। देश के अधिकांश लोग अनपढ़ तथा पिछड़े हुए हैं। स्वार्थी तत्त्व देश की इसी भोली-भाली अनपढ़ जनता का अनुचित लाभ उठाकर घर भरने में लगे हुए हैं। यही कारण है कि इसके साथ-साथ इन कवियों ने नवीन उज्ज्वल भविष्य की कल्पना भी की है। पंत की 'युगान्त' तथा 'युगवाणी' जैसी रचनाओं में इसी प्रकार के भाव उपलब्ध होते हैं। कवि अपनी कविता 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' में रूढ़ियों को समाप्त करके नए समय का निर्माण करना चाहता है। प्रगतिवादी कवियों का लक्ष्य है–एक ऐसे समाजवाद की स्थापना करना जिसमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उचित रोजगार मिले। कवि त्रिलोचन का कहना है कि यदि हम स्थापित मान्यताओं को नहीं बदलेंगे तो मानव जाति का विकास नहीं हो सकेगा।

"नव युग जन आगे आओ।
नव निर्माण करो तुम जग।
जीवन का समाज का मन का।"

नव-निर्माण के लिए प्रगतिवादी कवि समाज की व्यवस्था को बदलना चाहता है। ऐसा करने से ही समाज का नव-निर्माण हो सकता है अन्यथा पूंजीपति वर्ग हमेशा गरीबों का शोषण करता रहेगा और अपनी पूंजी की वृद्धि करता रहेगा।

7. क्रांति और विद्रोह की भावना–प्रगतिवादी काव्य साम्यवाद पर आधारित है। प्रगतिवादी कवि का कहना है कि साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना करने के लिए सामंतवादी व्यवस्था का समूल नाश आवश्यक है। उनका विचार है कि जैसे रूस तथा फ्रांस में रक्त रंजित क्रांति हुई थी उसी प्रकार देश में सर्वहारा वर्ग को खूनी क्रांति करनी चाहिए। क्रांति के बिना समाज में परिवर्तन नहीं आ सकता। प्रगतिवादी कवि क्रांति के उन प्रलयकारी स्वरों का आह्वान करते हैं जिससे जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियां तथा परम्पराएं किसी गहन अतल में लुप्त हो जाएं। वे गांधी की हृदय परिवर्तन की नीति पर विश्वास नहीं करते। एक स्थल पर हरिवंश राय बच्चन लिखते भी हैं–

"उठ समय से भोर चाले
धूल-धूसर वस्त्र मानव
देह पर फंसते नहीं हैं
देह के ही रक्त से तू देह के कपड़े रंगा ले।"

प्रगतिवादी कवि फोड़े पर मरहम लगाकर उसका उपचार नहीं करना चाहते, बल्कि उसे जड़ से काटना चाहते हैं। कविवर बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने क्रांति का आह्वान किया है। वह कहता है–

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जाएं, त्राहि-त्राहि स्वर नभ में छाए।
नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाए।"

कविवर निराला, पंत तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आरम्भिक प्रगतिवादी कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। 'निराला जी' ने अपनी कई कविताओं में यह स्वर मुखरित किया है तथा समाजवाद की स्थापना पर बल दिया है। 'बेला' नामक कविता में वे कहते हैं–

"जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ जाओ
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला
धोबी-चमार-तेली
खोलेंगे अन्धेरे का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे टाट बिछाओ।"

8. नारी भावना–प्रगतिवादी कवियों ने नारी के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया है। उन्होंने छायावादी कवियों के समान नारी के सौन्दर्य का वर्णन नहीं किया, बल्कि उसे मजदूर और किसान के समान शोषित माना है। नारी युगों-युगों से साम्यवादी

व्यवस्था के कारण पुरुष दासता की लौहमयी शृंखलाओं में जकड़ी पड़ी है। प्रगतिवादी कवि उसे इस कैद से मुक्त कराना चाहता है। इसलिए उसने मानवी के रूप में नारी का चित्रण किया है। इनका कहना है कि नारी केवल प्रणय की पुतली नहीं है, बल्कि वह मनुष्य के बराबर स्थान रखती है। पंत ने नारी मुक्ति के लिए आवाज बुलन्द करते हुए कहा है—

"योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर आश्रित।

× × × × × ×

मुक्त करो नारी को
चिरवन्दिनी नारी को
युग-युग की कारा से
जननी, सखी प्यारी को।"

इस प्रकार कवियों ने नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया है। ये कवि नारी की दयनीय परिस्थिति को अच्छी प्रकार जानते थे। वे उसका उत्थान कराना चाहते थे ताकि नारी पुरुष पर निर्भर न रहे बल्कि वह पुरुष के साथ कंधे-से-कंधा मिला कर समाज का नव-निर्माण करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे। कविवर निराला ने विधवाओं के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उनकी दीन-हीन दशा का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। वे कहते भी हैं—

"वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शांत, भाव में लीन
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति रेखा सी
वह टूटे तरु की छूटी लता-सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है।"

9. अभिव्यंजना शिल्प—प्रगतिवादी कवि अपने विचारों को जन-जन तक पहुंचाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने सहज, सरल और व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया है। इनकी काव्य भाषा जन भाषा के अधिक निकट है। वस्तुतः प्रगतिवादी साहित्य जन साधारण का ही साहित्य है। उदाहरण के रूप में, निराला की 'भिक्षुक' कविता की भाषा आदर्श जन-साधारण की भाषा कही जा सकती है। प्रगतिवादी कवियों ने सर्वसाधारण तक अपना संदेश पहुंचाने के लिए प्रादेशिक मूल्यों में काव्य रचना की। 20वीं शताब्दी के अधिकांश अवधि काव्य में प्रगतिवादी काव्यों की अभिगूंज सुनाई देती है। भोजपुरी तथा राज्यस्थानी में इन कवियों ने सरल, सुबोध तथा व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया। इन कवियों ने पिंगल शास्त्र के छंदों को छोड़कर जन गीतों, लोकगीतों और लोकधुनों को अपनाया और अपने प्रगतिवादी भाव प्रकट किए। निराला में 'जानता नहीं मैं छंद बंद' कहकर छंद के मोह को नकार दिया। एक स्थल पर कविवर पंत भी कहते हैं—

"खुल गए छंद के बंध, प्रास के रजत पाश
अव गीत मुक्त औ, युगवाणी बहती अयास।"

◆◆◆